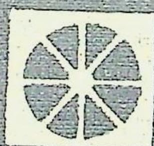
"ओ३म्"

अध्यात्म-योग

ईश्वर भक्ति का सुलभ योग मार्ग दर्शन



प्रकाशक

दयानन्द संस्थान

नई दिल्ली-५

with Compliment of
Fazal Lal Sharma Deh

To: Pt. Prem Nath Shastri,
Totisthan, Kashmir

॥ ओ३म् ॥

अध्यात्म-योग

आध्यात्मिक विषयों पर गहन और वैदिक वाङ्मय पर
आधारित प्रेरक, विचारोत्तेजक ग्रन्थ



"अमृतपथ" "उपनिषद् वचनामृत" "ज्योति स्तम्भ"
"यज्ञ प्रसाद" "श्रीराम चरित" इत्यादि पुस्तकों के

—रचयिता

श्री पं० दीनानाथ सिद्धान्तालंकार



प्रकाशक

जन-ज्ञान प्रकाशन, नई दिल्ली-५

जन-ज्ञान प्रकाशन का १०८ वाँ पुष्प

दूरभाष : ५६६६३९

प्रकाशक—

जन-ज्ञान-प्रकाशन

१५९७, हरध्यानसिंह मार्ग

नई दिल्ली-५

मूल्य सजिल्द ५) : साधारण ४)



समर्पण

विदेशी शासन काल में भी आजन्म, निर्भीक, अडिग
आर्य जीवन के प्रतीक स्वर्गीय पूज्य पिता
श्री हीरानन्द जी
के पवित्र चरणों में -

—दीनानाथ सिद्धान्तालंकार

अपनी ओर से

अध्यात्म और जीवन

जीवन के दो मार्ग हैं, एक शरीर को सत्य मानता है। उसी की सुख-सुविधा और तृप्ति के लिए चिन्तन करता है। और दूसरा शरीर को साधन मात्र समझ सत्य 'आत्मा' की उन्नति-गति और आनन्द के लिए राह बनाता है।

'अध्यात्म' नाम है उस शास्त्र का जो 'आत्मा' को सत्य मानकर चलता है। योग उस शास्त्र का, विज्ञान का नाम है जो अध्यात्म मार्ग का विकास करता है। पंजाबी की एक कहावत है:—

ईश्वर दा क्या पावणा,
इधरों तोड़ना, उधरों लावणा।

योग प्रथम पंक्ति के विकास के लिए निर्देशन करता है और अध्यात्म द्वितीय पंक्ति की साधना का प्रेरक है।

सच तो यह है कि मनुष्य मनुष्य तभी बनता है जब वह आत्म तत्त्व को जाने, समझे और विकास करे अन्यथा उस में और पशु में कोई अन्तर नहीं रहता। संसार की सारी उलझनों का हल है—अध्यात्म और ज्ञान के विकास का आधार है 'योग'। आज सभी इन दोनों को विस्मृत कर मृत्यु पथ पर बढ़ रहे हैं। चल रहे हैं और कष्टों में जल रहे हैं रक्षा का मार्ग किसी को नहीं सूझता।

हम 'शरीर' को सत्य मानने वाली अन्धकार की उपासक दुनियां के समक्ष आत्म ज्ञान का सूर्य योग और अध्यात्म का पावन संदेश लेकर उपस्थित है। पावन ज्ञान गंगा का अमृत पान कर कोई दुःखी नहीं रह सकता। अध्यात्म मार्ग पर चल कर जीवन स्वर्ग बन जाता है। इसी संदेश का प्रचार और प्रसार करने के उद्देश्य से पं० दीनानाथ जी सिद्धांतालंकार ने मनन, ध्यान और साधना से इस अनमोल ग्रंथ का निर्माण किया है।

धर्म, सत्य, ज्ञान और आत्म तत्त्व को ज्योतिर्मय बनाने का दिव्य साधन आपके हाथ में है। पढ़िए, विचार कीजिए और जीवन बदल डालिए।

आशीर्वाद और शुभ मंगल कामनाओं के साथ इस अध्यात्म योग को हम आपके मन मंदिर में प्रकाश पहुंचाने के लिए अर्चित करते हैं।

अध्यक्ष
दयानन्द संस्थान (नई दिल्ली–५)
१.१२.७३

भारतेन्द्र नाथ

विषय सूची

ओ३म्

१

यह विश्व, नदी और बाग के समान

यह संसार क्या है—इसे विश्व के कवि, दार्शनिक, तत्त्ववेत्ता इत्यादि ने अपनी-अपनी दृष्टि से देखा और बताया है। संसार सतत गतिशील है, परिवर्तन रूप है और प्रतिक्षण संयोग-वियोगात्मक है—यह मान्यता तो सब विचारकों की है। 'जगत्' शब्द इसी आशय का द्योतक है। ज्ञान के आदि स्रोत वेद में विश्व की वृक्ष, नदी, घौंसला—इत्यादि वस्तुओं से उपमा दी गई है। संसार को वृक्ष तुल्य बताये जाने के सम्बन्ध में हम यथास्थान सविस्तर विचार करेंगे। नदी के रूप में वेद इस विश्व का निम्न शब्दों में वर्णन करता है—

अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।
अत्रा जहीमोऽशिवा ये असन् शिवान् वयमुत्तरेऽभिवाजान्॥ यजु० ३५।१०

यह संसार रूपी नदी—"जिसके भीतर नोकीले पत्थर हैं—बड़ी तीव्र गति से बह रही है। समान विचार वाले हे मित्रो! सन्नद्ध हो जाओ और इसे पार करने के लिए खड़े हो जाओ। इस नदी को पार करने से पहले कुत्सित विचारों को तुम यहीं छोड़ दो और कल्याणप्रद भावनाओं का तुम अगली यात्रा के लिए संग्रह कर लो।"

इस मंत्र में "प्रतरता" शब्द से स्पष्ट है कि नदी को तैर कर पार करना है, किसी नौका इत्यादि वाहन द्वारा नहीं। इस सन्तरण के लिए शरीर पर केवल उतना ही परिधान होना चाहिए जो तैरने में सहायक हो। इसी प्रकार विश्व नदी को पार करने के लिए मानव मन में कुत्सित विचारों और संस्कारों का बोझ न हो, मात्र शुभ, पवित्र, मंगलमय संकल्पों और भावनाओं का सहारा हो। सन्त कबीर के शब्दों में—

खुलि खेलो संसार में, बांध सके न कोय।
घाट जगाती क्या करे, जो सिर बोझो न होय॥

गहरी नदी व सागर

राज्य को लात मार वैराग्य ले अरण्यवासी भर्तृहरि ने विश्वरूपी इस नदी का अधिक ब्यौरे के साथ भावग्राही शब्दों में वर्णन किया है—

आशा नाम नदी मनोरथ जला तृष्णा तरंगाकुला,
राग ग्राहवती वितर्क विहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त्त सुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुंग चिन्ता तटी,
तस्याः पारगताः विशुद्ध मनसा नन्दन्ति योगीश्वराः॥

यह नदी आशाओं की है जिसमें जल मनोरथों का है, तृष्णा इसमें तरंग रूप है, राग-द्वेष मगरमच्छ हैं, शंका-सन्देह पक्षी है और नदी का वेगमय जल धैर्यरूपी

वृक्षों को गिराने वाला है । मोह इस नदी में गहरे जलचक्र के समान है, चिन्ता इसके ऊंचे किनारे हैं । शुद्ध चित्त वाले योगीजन इस नदी को पार कर प्रसन्न होते हैं ।

मध्य युग के सन्त कवियों ने इस संसार को सागर का रूप बताते हुए इससे पार उतरने की कामना की है । कबीर कहते हैं—

सुरति करौ मेरे साइयां हम हैं भवजल मांहि ।
आपे ही बह जाएंगे जो नहिं पकड़ो बांहि ।।
अन्तरजामी एक तुम आतम के आधार ।
जो तुम छांड़ो हाथ तो कौन उतारे पार ।।

सूरदास इस सागर के सम्बन्ध में कुछ अधिक विस्तार से कहते हैं—

नीर अति गंभीर माया, लोभ लहर तरंग ।
लिये जात अगाध जल में, गहे ग्राह अनंग ।।
मीन इन्द्रिय अतिहिं काटति, मोर अघ सिरभार ।
पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सिवार ।।
काम क्रोध समेत तृस्ना पवन अति झकझोर ।
नाहिं चितवन देय तिय सुत, नाम नौका ओर ।।
थक्यो बीच बिहाल बिह्वल सुनो करुनामूल ।
प्रभो ! भुज गहि काढ़ि लीजे, सूर भव के कूल ।।

गिरिधर कवि भी भावपूर्ण शब्दों में कहते हैं—

नैया मेरी तनक सी, बोझी पाथर भार ।
चहुं दिसि अति भौंरें उठत केवट है मतवार ।।
केवट है मतवार, नाव मंझ धरहिं आनी ।
आंधी उठी प्रचंड, तेहुं पर बरसत पानी ।।
कह गिरिधर कविराय, नाथ हो तुमहिं खवैया ।
उठे दया की डांड, घाट पर आवे नैया ।।

बाग और चमन

उर्दू के कवियों ने इस संसार को नदी और बाग दोनों से उपमा दी है । अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह "जफर" मरने से पहले एक कागज पर यह शेर लिख दुनियां से विदा हुआ—

(१) आ पड़े मिस्ले शबनम, सैरे दुनिया कर चले ।
देख अब, ए बागबां, अपना चमन हम धर चले ।।

(२) मेरा रंग रूप बिगड़ गया,
मेरा हुस्न मुझसे छिन गया ।
जो चमन खिजाँ से उजड़ गया;
मैं उसकी फस्ले बहार हूं ।।

जौक के शब्दों में—

जौक इस बहरे फनां में कश्ती-ए-उमरे रवां।
जिस जगह पर जा लगी वो ही किनारा ही गया ॥

एक अन्य उर्दू कवि के शब्द हैं—

जरूरत अब नहीं महदूद अपनी ज़ात तक मेरी।
चमन की खैर मांगूं मुझे फिकरे-आशियां क्यों ?

२

विश्व, घोंसले और वृक्ष सदृश

(१) घौंसला

वैदिक वाङ्मय में इस विश्व को वृक्ष और कुछ विशिष्ट वृक्षों के नामों के संकेत से अभिव्यक्त किया गया है। यजुर्वेद के ३२।८ के निम्न मन्त्र में विश्व को "नीड" (घौंसला) कहा गया है—

वेन स्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्।
तस्मिन्निदं संच विचेति सर्व स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु ॥

ज्ञान युक्त जीवात्मा इस महान् ब्रह्म को देखता है जिसके अन्तर्गत यह विश्व एक घौंसले के समान तुच्छ रूप में है। वह व्यापक ब्रह्म इन सब प्रजाओं को चारों ओर से अपने में समेटे हुए है।

इस मंत्र में विश्व को नीड (घौंसले) की उपमा देकर वेद ने एक गम्भीर अर्थ को प्रकट किया है। अंग्रेजी का "नेट" (जाल, घौंसला) शब्द "नीड" का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है। घौंसला कैसे बनता है ? पक्षी अपनी छोटी, पतली और तीखी चोंच से छोटे-छोटे तिनकों को ठीक ढंग से जोड़ घौंसला बनाता है। "बया" नाम के चिड़िया जाति के पक्षी का बनाया घौंसला तो तिनकों को ऐसे व्यवस्थित ढंग से बांध करके बना होता है कि देखते ही इस छोटे पक्षी की कारीगरी पर आश्चर्य होता है। क्या यह प्रकृति रूपी महान् "नीड" कम आश्चर्यजनक है ? एक कवि के शब्दों में—

तेरी बेमिसाल कुदरत का हर एक पत्ते में दफ्तर हैं।
तेरा देखा है सिक्काये सब्त हमने दाने दाने में।

ईश्वर की प्रेरणा से निर्मित यह "नीड" सूक्ष्माति सूक्ष्म परमाणुओं के सतत संयोग-वियोग का मूर्त्त रूप है। पक्षी और उसका घौंसला तो एकदेशीय है पर परमात्मा इस घौंसले (नीड) रूपी सृष्टि में सर्वत्र समभाव से व्याप्त रहता है।

(२) वृक्ष का महत्व

वेद, उपनिषद्, गीता, महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में इस विश्व की उपमा वृक्ष से दी गयी है। "हलायुधकोश" के अनुसार वृक्ष शब्द "वृश्च छेदने" ने धातु से

बनता है जिसका अभिप्राय यह है कि यह वृक्ष छेदन अर्थात् कटने और टुकड़े होने वाला है, अर्थात् अनित्य है। वेद के एक "वृक्ष" शब्द में कितना गम्भीर अर्थ निहित है। पद्मपुराण के अनुसार "वृक्ष" शब्द से निम्न छः प्रकार की वनस्पतियों का ग्रहण होता है :—

वृक्ष गुल्म लता वल्लयस्त्वक् सारा स्तृण जातयः।
षडेते वृक्ष जातीया स्तासां रोपे फलं श्रृणु ॥

वृक्ष (पेड़), पौधा, ऊपर चढ़ने योग्य बेल, भूमि पर फैलने वाली बेल, त्वचा सदृश अत्यन्त क्षीण पौधे, तिनकों वाले पौधे, इन छः प्रकार के वृक्ष जातियों के लगाने का फल अगले श्लोक में बताया गया है।

यः पुमान् रोपयेत् वृक्षान् छाया पुष्प फलोपगान्।
सर्वतत्त्वोपयोगाय स याति परमां गतिम् ॥

छाया, पुष्प, फल देने वाले इन वृक्षों का जो रोपण सब लोगों के उपयोग के लिए करता है वह उत्तम गति को प्राप्त होता है। भारतीय वाङ्मय में वृक्ष रोपण को बड़ा पुण्य प्रद कार्य बताते हुए सन्तानवत् उसकी रक्षा का आदेश दिया गया है। प्राणिमात्र के हित के लिए वृक्ष, उद्यान आदि लगाने और तड़ाग, कूप-बावली इत्यादि के निर्माण को "आपूर्त्त" नामक यज्ञ वेदों में बताया गया है। मध्य कालीन सन्त धर्म दास ने इसी दृष्टि से संसार को वृक्ष के रूप में कहा है।

बलिहारी जा वृक्ष की जड काटे फल होई।
अति कड़वा खट्टा घना रे, वाको रस है भाई ॥

सन्त कबीर उत्तम वृक्ष का वर्णन करते हुए कहते हैं—

तरवर तासु विलम्बिये, बारह मास फलन्त।
सीतल छाया सघन फल, पंछी केल करन्त।

वैदिक वाङ्मय में वृक्ष और उसके नाम

यजुर्वेद के अध्याय १७, मन्त्र २० में प्रश्न और उत्तर के रूप में इस विश्व को "वृक्ष" कहा गया है। मन्त्र इस प्रकार है :—

किंस्विद्वनं कउ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठत् भुवनानि धारयन् ॥

यह वन कौन सा है, और वह वृक्ष कौन सा है जिससे प्रकाश और अप्रकाश वाले लोक छील और काट कर बनाये गये हैं। हे बुद्धिमानो! मन से इस प्रश्न को पूछो। वेद स्वयं इसका उत्तर इसी मन्त्र में देता है—जो लोकों को धारण करता हुआ—जीवन शक्ति युक्त करता हुआ—अधिष्ठित, अर्थात्, अपने अधिकार में रखता है, वही ब्रह्म सर्वव्यापी है।

वेदों में वृक्ष-विशेष के नाम से भी इस 'विश्व' का वर्णन किया गया है। जैसे ऋग् १।१६४।२० मंत्र में—

अन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्ति

यह जीवात्मा पिप्पल (वृक्ष) के फल को स्वाद से खा रहा है।

यही मन्त्र मुण्डक उपनिषद् के ३।१ में अविकल रूप से आया है। वेद और मुण्डक उपनिषद् के इस मंत्र के पहले पद में "वृक्ष" और दूसरे पद में "पिप्पल" शब्द आया है। इस सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे।

मुण्डक उपनिषद् में ३।१ के श्लोक के आगे ही ३।२ का श्लोक इस प्रकार है जिसमें इस प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठ एक पक्षी (जीवात्मा) की स्थिति का भावपूर्ण वर्णन किया गया है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

एक ही वृक्ष पर बैठा जीवात्मा फल खाने में ऐसा निमग्न हो जाता है कि बाद में अपनी मूर्खता पर पछताता है। अपने समीप स्थित परमात्मा की महिमा को जब देख लेता है, तब जीवात्मा शोकरहित हो जाता है।

ऋग्वेद और मुण्डक उपनिषद् में समान रूप से आये जिस मन्त्र का अभी हमने ऊपर उल्लेख किया है, उसके आगे ही ऋग्वेद के १।१६४।२२ मन्त्र में "पिप्पल" नाम से इस वृक्ष का गूढ़ार्थ पूर्ण आलंकारिक वर्णन किया गया है। यह मन्त्र है—

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥

इस प्रकृति रूपी वृक्ष पर जो मीठे फल लगते हैं, जीवात्मा उन्हीं के भोग में फंसा रहता है और सन्तान वृद्धि करता है। वह मीठा फल इस वृक्ष का ही समझता है पर अपने पिता को नहीं जानता। इसलिए वह जीवात्मा वास्तविक आनन्द को प्राप्त नहीं कर पाता।

अथर्ववेद का अध्याय १० का ७वाँ समूचा सूक्त परमात्मा का "स्कम्भ" (सर्वाधार) रूप से वर्णन करता है। इसी सूक्त के १०।७।३८ के निम्नलिखित मन्त्र में परमात्मा को "वृक्ष" का "स्कन्ध" कहा गया है—

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिन् श्रयन्ते य उ के च देवाः वृक्षस्य स्कन्धः परित
इव शाखाः॥

वह परमात्मा बड़ा पूज्य देव तीनों भुवनों के मध्य अन्तरिक्ष के पृष्ठ पर अपने प्रकाश से सर्वत्र व्याप्त है। समस्त देव उसी के आश्रय हैं जिस प्रकार वृक्ष के स्तम्भ के सहारे चारों ओर शाखाएं होती हैं।

ऋग्वेद के १०।१३५।१ के निम्न मन्त्र में इस "विश्ववृक्ष" को सुपलाश कहा गया है—

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणं अनुवेनति॥

उत्तम पलाश वृक्ष पर बैठ कर सब प्रजाओं का पालनकर्त्ता पिता यम अन्य देवों के साथ रसपान करता है और अपने पीछे इन प्राचीन देवों को चलाता है।

अश्वत्थ नाम का वृक्ष

अथर्ववेद में दो स्थानों पर आये निम्न मन्त्र में इस विश्व वृक्ष को "अश्वत्थ" नाम दिया गया है—

अश्वत्थे देव सदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत।। ५।४।३ और १९।३९।६

अश्वत्थ वृक्ष देवों के रहने का स्थान है। यह ब्रह्म तीसरे द्युलोक में रहता है। उस अमरत्व पूर्ण रस को देवों ने प्राप्त किया।

यजुर्वेद के १२।७९ और ३५।४ में निम्नलिखित मन्त्र द्वारा इस कार्यरूप प्रकृति वृक्ष को "अश्वत्थ" नाम से कहा गया है—

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत् किला सथ यत् सनवथ पूरुषम्।।

हे प्राणियो ! तुम्हारा बैठना अश्वत्थ वृक्ष पर है, तुम्हारा निवास पत्ते पर है। अगर तुम इन्द्रिय भक्त ही रहे, तो तुम उस (पूरुष) ब्रह्म से दूर ही रहोगे।

उपनिषदों में इस विश्व वृक्ष का वर्णन विविध नामों से किया गया है। कठ उपनिषद् ६।१ में यम ऋषि नचिकेता को उपदेश देते हुए कहते हैं—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन,
एतद् वै तत्।।

यह विश्व वृक्ष ऐसा है जिसकी जड़ ऊपर अर्थात् उच्च शक्ति ब्रह्म में है और उसी के आदेश से निम्न दिशा की ओर उसकी शाखाएं हैं। इस पुरातन वृक्ष का नाम "अश्वत्थ" है। इस विश्व में वही ब्रह्म शुद्ध है, महान् है, अमृत है, उसी में सब लोक आश्रित हैं, उसे कोई लांघ नहीं सकता, निश्चय रूप से वह ब्रह्म ऐसा ही है।

उपनिषद् का यह श्लोक मानव देह पर भी चरितार्थ होता है। शरीर की समस्त शक्ति का आधार ऊपर अर्थात् मस्तिष्क में है। यह शरीर इस प्रकार अश्वत्थ वृक्ष के तुल्य है। नस-नाड़ी-चक्र शिर से नीचे की ओर जाने वाली शाखाओं के सदृश है। मस्तिष्क, आत्मा और बुद्धि का केन्द्र होने से अमृत रूप है और समस्त इन्द्रियां इसी में आश्रित हैं।

छान्दोग्य में 'न्यग्रोध'

छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक के पहले खंड से १६वें खंड तक अरुण ऋषि और उसके पुत्र श्वेतकेतु का संवाद आता है। इस संवाद के नौवें, ग्यारहवें

और बारहवें खण्डों में इस विश्व को वृक्ष के तुल्य और प्राणियों को मधुमक्खी सदृश बताते हुए अरुण ऋषि कहते हैं कि हे सोम्य ! सब प्राणी "सत्" में पहुँच कर नहीं जानते कि हम सत् (ब्रह्म) की व्यवस्था में आ पहुँचे हैं और जीव सत् (ब्रह्म) में पहुँच कर अपने रूप को नहीं खो देता।" अरुण ऋषि आगे कहते हैं कि—वृक्ष पृथ्वी से रस पान करता हुआ हरा-भरा खड़ा रहता है, इसी प्रकार शरीर जीवात्मा से शक्ति ग्रहण करता हुआ हरा-भरा रहता है। जब जीव शरीर छोड़ देता है, तो वृक्ष तुल्य शरीर सूख जाता है। हे सौम्य ! मनुष्य शरीर को वृक्ष समान ही समझो।" बारहवें खंड में अरुण ऋषि श्वेत केतु पुत्र को समझाते हुए इस वृक्ष का नाम "न्यग्रोध" (वट वृक्ष) कहते हैं और इस वृक्ष के फल के भीतर सन्निविष्ट छोटे छोटे दानों की ओर पुत्र का ध्यान खींचते हुए उपदेश देते हैं कि—हे सौम्य ! इस अणु-रूप में से ही यह विश्व रूपी महान् वट-वृक्ष खड़ा हो जाता है। इस तथ्य पर श्रद्धा कर।"

गीता में अश्वत्थ

कठ उपनिषद् में इस विश्व को "अश्वत्थ" नाम दिये जाने का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इस उपनिषद् वचन के आधार पर ही गीता के अध्याय १५ के निम्नलिखित १, २ और ३ श्लोकों में इस "अश्वत्थ" वृक्ष का अधिक विस्तार से निरूपण किया गया है—

(१) ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहु रव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥
(२) अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणा प्रवृद्धा
विषय प्रवाला।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि
मनुष्यलोके॥
(३) न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च
सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थ मेनं सुविरूढमूल मसंग शस्त्रेण
दृढेन छित्वा॥

पहले श्लोक में "अश्वत्थ" शब्द के साथ प्रारम्भ करते हुए इस अलंकार की परिसमाप्ति भी "अश्वत्थ" नाम के साथ तीसरे श्लोक में की गयी है। कठ उपनिषद् में वर्णित "अश्वत्थ" के वर्णन की अपेक्षा गीता के इन तीनों श्लोकों में जहां अधिक विस्तार है, वहां विभिन्नता भी है। कठ उपनिषद् में इस "अश्वत्थ" को जहां "सनातन" और "अवाक् शाख" कहा गया है, वहां गीता में इसे "अधः शाखम्" और अव्ययम्" अभिहित किया गया है। यद्यपि इन दोनों प्रकार के "अश्वत्थ" विषयक विशेषणों में कोई मौलिक भेद नहीं है पर आगे जितना वर्णन है, वह कठ उपनिषद्

की तुलना में गीता में अधिक विशद रूप में है। इन तीनों श्लोकों के शब्दार्थ से ही यह विभिन्नता स्पष्ट हो जाएगी।

(१) यह "अश्वत्थ" वृक्ष ऐसा है जिसकी जड़ ऊपर है और शाखाएं नीचे हैं, जो कभी नष्ट नहीं होता, वेद जिसके पत्ते हैं। इस वृक्ष को जिसने जान लिया वही वेदवित् है।

(२) इस वृक्ष की शाखाएं नीचे और ऊपर फैली हुई हैं, सत, रज और तम गुणों के कारण बढ़ी हुई हैं और इनसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध विषयों के अंकुर फटे हुए हैं, इस वृक्ष की जड़ें कर्म के रूप में नीचे मनुष्य लोक में बढ़ती हुई गहरी चली गयी हैं।

(३) (ऊपर वर्णित) इस वृक्ष का स्थूल रूप उपलब्ध नहीं होता, इसका आदि, अन्त और आधार स्थान भी नहीं मिलता। यह अश्वत्थ (वृक्ष) अत्यन्त दृढ़ मूल वाला है, यह अनासक्ति रूप सुदृढ़ शस्त्र से ही काटा जा सकता है। गीता १०।२६ में विराट् स्वरूप का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण "अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम"—सब वृक्षों में अश्वत्थ—इन शब्दों से "अश्वत्थ" का महत्त्व प्रकट करते हैं।

महाभारत में "प्रज्ञावृक्ष" और "ब्रह्म वृक्ष"

वेद, उपनिषद्, गीता में वर्णित विश्व वृक्ष के इसी क्रम को अधिक मूर्त्त रूप देते हुए महाभारत में "प्रज्ञा वृक्ष" नाम से निम्न श्लोकों में पल्लवित किया गया है—

(१) प्रज्ञा वृक्षं मोक्षफलं शान्तिच्छाया समन्वितम्।
ज्ञानाश्रयं तृप्ति तोय मन्तः क्षेत्रज्ञ भास्करम्॥
(२) ये ऽधि गच्छन्ति तत् सन्त स्तेषां नास्ति पुनर्भवः।
ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च तस्य नान्तोऽधिगम्यते॥
आश्वमेधिक पर्व, २८।१६,१७

यह विश्व प्रज्ञा वृक्ष के रूप में, मोक्षरूपी फल और शांति रूपी छाया से युक्त है, ज्ञान इसमें आश्रय स्थान है, तृप्ति सदृश जल युक्त, अन्तः आतमा जहां प्रकाशमय है। जो इस वृक्ष को समझ लेते हैं, वे सन्त पुरुष हैं और उनका पुनर्जन्म नहीं होता। यह वृक्ष ऊपर, नीचे और तिरछा है, इसका अन्त नहीं जाना जा सकता।

गीता और महाभारत के श्लोकों की तुलना करने से कुछ भेद स्पष्ट होते हैं। जहां गीता में "दृढ़ असंग शस्त्र" से सुदृढ़ "अश्वत्थ" वृक्ष को समूल काटने का निर्देश करते हुए उसे मनुष्य लोक में कर्मों से अनुबद्ध कहा गया है, वहां महाभारत में इस प्रज्ञा वृक्ष को मनुष्य लोक और कर्मों से सर्वथा पृथक् रखते हुए शान्ति, तृप्ति, ज्ञान का आश्रय और प्रकाशयुक्त क्षेत्रज्ञ को पुनर्जन्म से छुटकारा देने वाला बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत के इन श्लोकों के निर्माता ने कर्म की अपेक्षा ज्ञान को अधिक वरीयता देते हुए पुनर्जन्म से सर्वथा मुक्त होने को ही जीवन लक्ष्य स्वीकारा है।

विश्व वृक्ष के इसी प्रसंग को महाभारत के अश्वमेघ पर्व ३५ श्लोक २०-२३

और अ० ४७ श्लोक १२-१५ में निम्नरूप में "ब्रह्म वृक्ष" नाम से उपस्थित किया गया है—

(१) अव्यक्त बीज प्रभवो बुद्धि स्कंधमयो महान्।
महाऽहंकार विटपः इन्द्रियान्तर कोटरः ॥
(२) महाभूत विशाखश्च विशेष प्रतिशाखवान्।
सदापर्णः सदापुष्पः शुभाशुभ फलोदयः ॥
(३) आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्म वृक्षः सनातनः।
एवं छित्वा च भित्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः ॥
(४) हित्वा संगमयान् पाशान् मृत्युजन्मजरोदयान्।
निर्ममो निरहंकारो मुच्यते नात्र संशयः ॥

प्रकृति (अव्यक्त) जिसका बीज है, बुद्धि (महत्) जिसका बड़ा तना है, महा अहंकार रूपी यह वृक्ष है, मन और दस इन्द्रियां जिस वृक्ष के तने के अन्तर्गत खोखला स्थान (कोटरः) है (महाभूत) सूक्ष्म तन्मायाएं जिसकी बड़ी शाखाएं और स्थूल पंच पदार्थ --पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश—जिसकी छोटी शाखाए हैं। यह वृक्ष सदा पत्ते, पुष्प और शुभ-अशुभ फलयुक्त है, प्राणि मात्र के लिए आश्रय स्थान यह सनातन ब्रह्म वृक्ष है। ज्ञानी पुरुष द्वारा यह वृक्ष तत्त्व ज्ञान रूपी तलवार से काटने और टुकड़े कर देने योग्य है। जब ऐसा करेगा तब ज्ञानी मृत्यु-जन्म-जरा से उत्पन्न होने वाले संगयुक्त पाशों को काटकर अहंकार रहित हो मुक्त हो जाता है— इसमें कोई सन्देह नहीं है।

३

प्रज्ञा-वृक्ष और ब्रह्म वृक्ष

महाभारत के उपर्युक्त दोनों स्थलों में वर्णित "प्रज्ञावृक्ष" और "ब्रह्मवृक्ष"— इन दोनों प्रकार के वृक्षों में उल्लेखनीय भेद है। "प्रज्ञावृक्ष" को जहां शान्ति छाया युक्त और मोक्ष फल रूप बताते हुए पुनर्जन्य नाशक और "अन्त" रहित कहा गया है, वहाँ "ब्रह्मवृक्ष" के अन्तर्गत सूक्ष्म और स्थूल पंचमहाभूतों तथा इन्द्रियों को भी शामिल करके इसे "तत्त्वज्ञान" रूपी तलवार से टुकड़े कर देने का आदेश दिया गया है। इसके बाद जन्म-मृत्यु जरा से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। यह भी कहा गया है कि प्राणिमात्र का एकमात्र आधार यह ब्रह्मवृक्ष ही है। स्पष्टतः, इस विश्वरूपी "ब्रह्मवृक्ष" में रहते हुए ही इससे मुक्त होने के साधनों का अवलम्बन करना होगा। "ब्रह्मवृक्ष" अथवा "प्रज्ञावृक्ष" का समूलोन्मूलन मनुष्य के लिए संभव नहीं है और न ही यह उचित है, अपितु इसमें अवस्थित रहते हुए तत्त्वज्ञान रूपी तलवार की सहायता से बन्धनों को काट देना ही इसका कर्त्तव्य है। इसी में मानव का कल्याण

है और यही उसके जीवन का परम लक्ष्य है। उपनिषद् और गीता के पूर्वोक्त वचनों में इस विश्ववृक्ष के लिए "सनातन" "अव्यय" शब्दों का प्रयोग कर यह घोषणा कर दी गई है कि यह "विश्ववृक्ष" क्षणभंगुर नहीं है। जो लोग इसे मात्र स्वप्नवत्, मिथ्या, प्रपंचरूप इत्यादि नामों से अभिहित करते हैं, वे भयंकर भूल करते हैं। क्षणभंगुर विश्व की कल्पना वेद, उपनिषद्, गीता, महाभारत इत्यादि की नहीं है। वैदिक बाङ्मय में परमात्मा को "विश्व रूप" अनादि अनन्त, अविनाशी मानते हुए उसकी सृष्टि को भी अनादि, अनन्त और अविनाशी माना गया है। यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कारण रूप सृष्टि ही प्रवाह से अनादि, अनन्त और अविनाशी है, कार्य रूप-स्थूल जगत् तो निरन्तर संयोग वियोगात्मक होने से, परिवर्तनशील, निर्माण विनाश रूप ही है। सृष्टि के सम्बन्ध में दोनों स्वरूपों के मध्य की भेद रेखा सदा दृष्टि में रखनी आवश्यक है। इसी उद्देश्य से कठ उपनिषद् के पूर्वोक्त वचन में इस "विश्ववृक्ष" को "शुक्र, ब्रह्म और अमृत" कहा गया है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में केवल 'वृक्ष'

वेद और उपनिषदों में एक वृक्ष का ही संकेत है यद्यपि उसके नाम भिन्न-भिन्न बताये गये हैं। श्वेताश्वेतर उपनिषद् ६।६ में बिना कोई विशिष्ट नाम कहे, केवल "वृक्ष" नाम से इस विश्व का परिचय दिया गया है। ऋषि कहते हैं—

स वृक्षः कालाकृतिभिः परोऽन्यो,
यस्मात् प्रपंचः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं,
ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम॥

वह ब्रह्म इस प्रकृति रूपी "वृक्ष" तथा काल के नाना स्वरूपों और विभिन्न भेदों से परे है, अर्थात्, वह इनसे "अन्य"—पृथक् है। विश्व के अनगिनत रूप उसी की शक्ति से सतत परिवर्तित हो रहे हैं। वह ब्रह्म धर्ममार्ग का प्रेरक और पाप-भावनाओं का नाशक है. वही कल्याण का स्वामी है। विश्व के स्वामी उस अमृत-स्वरूप भगवान् को आत्मा में स्थित जान उसीकी उपासना करनी चाहिए।

विश्व सत्य है

गत अध्याय में दिये गये वेद, उपनिषद्, गीता, महाभारत के उद्धरणों से दो तथ्य सम्मुख आते हैं—(१) वेद और उपनिषदों में यद्यपि "वृक्ष" का उल्लेख विभिन्न नामों से है पर वह सब एक एकवचन में ही है, अर्थात्, अभिधेय एक ही वृक्ष है। पूर्वोक्त यजुर्वेद के १७-३० मंत्र में यद्यपि "वृक्ष" के साथ "वन" शब्द भी प्रयुक्त है पर वहां "वन" शब्द से अभिप्राय अरण्य का नहीं किन्तु 'द्यावापृथिवी" (द्युलोक, पृथिवी लोक इत्यादि) हैं। वेद और उपनिषदों में इस वृक्ष के अधिष्ठाता ईश्वर और उसके समीपस्थ कर्मफल भोक्ता और कर्मकर्त्ता जीवात्मा का ही वर्णन करते हुए दोनों के पास्परिक सम्बन्ध का भी निर्देशन किया गया है। कठ उपनिषद् के ६।१ श्लोक के अन्त में, जिसे हम गत अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं—'एतत् वै तत्" यह शब्द विशेष सार्थक और महत्त्वपूर्ण है, अर्थात् इस शुक्र, ब्रह्म, अमृत और सनातन अश्वत्थ वृक्ष

में ही सब लोक आश्रित हैं, इसे कोई लाँघ नहीं सकता और यह-निश्चय रूप से सत्य है (एतद् वै तत्)। (२) दूसरा तथ्य यह है कि वेद उपनिषद् पर आधारित गीता और महाभारत में विश्ववृक्ष के रूप का पर्याप्त विस्तार किया गया है। गीता के १५। १-२-३ श्लोकों में इस वृक्ष का वर्णन करते हुए उसके पत्तों, चतुर्दिक् प्रसृत शाखाओं, उसकी जड़ इत्यादि के साथ इस अश्वत्थ के उन्मूलन का उपाय भी बता दिया गया है। महाभारत में इस बृक्ष को 'प्रज्ञावक्ष' और 'ब्रह्मवृक्ष' नाम देते हुए 'ब्रह्मारण्य की कल्पना की गई है। गीता में 'दृढ़असंगशस्त्र और महाभारत में 'ज्ञानाश्रय' तथा 'तत्त्वज्ञान' रूपी शस्त्रों से इस वृक्ष के समूलोच्छेदन के उपाय बताये गये हैं। इन शब्दों के अभिप्राय, मूलतः, एक सदृश ही हैं।

वृक्ष उन्मूलन—असंग शस्त्र से

दृढ़ असंग शस्त्र और "तत्त्वज्ञान" क्या है ? जो व्यक्ति इस संसार में अनासक्त भाव से रहता है, विषयों में लिप्त हो भोगमय जीवन व्यतीत नहीं करता और निष्काम भाव से कर्त्तव्य पालन करता हुआ सदा ब्रह्मार्पित रहता है, वह "दृढ़ असंगशस्त्र" के प्रयोग और 'तत्त्वज्ञान" के सक्रिय प्रयोग से मोक्षाधिकारी बन जाता है। जो अनासक्त और संयमी है, वही इस शरीर और प्रकृति रूपी वृक्ष का ईश (स्वामी) बन जाने की योग्यता प्राप्त करता है। मानव स्वयं अपनी भोग-भावनाओं से अपने चारों ओर पाश जाल खड़ा कर लेता और फिर स्वय अपने को उसमें आवद्ध कर रोता, चिल्लाता और हाय-हाय करता है। वह भूल जाता है कि उसे बाँधने वाला कोई बाहर से नहीं आया है किन्तु यह पाश उसके अपने ही निर्मित ह। बांधने वाला जब बाहर से कोई नहीं आया तब छुड़ाने वाला भी बाहर से नहीं आयेगा, उसे स्वतः ही अपने को पाश-मुक्त करना होगा। नीतिकार के शब्दों में—

यावन्तः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशंकवः॥

मन के प्रिय जितने सम्बन्ध मनुष्य बाहर के पदार्थों से बनाता है, उतने ही शोक के खूंटे उसके हृदय में गड़ जाते हैं। इसलिए—

प्रचण्ड वासनावातै रुद्धृता नौ र्मनोमयी।
वैराग्य कर्ण धारेण विना रोद्धु नं शक्यते॥

यह मन रूपी नौका प्रचंड वासनाओं के थपेड़ों से डावांडोल हो रही है। इसे वैराग्य (अनासक्ति) रूपी चप्पू के बिना संयम में नहीं लाया जा सकता। यह कार्य मानव को स्वयं अपनी आत्मशक्ति से प्रभु से बल माँगते हुए करना होगा। वेद के शब्दों में—

ओ३म्। स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा तेऽन्येन न संनशे॥ यजुः २३।१५॥

हे बुद्धिमान् मनुष्य ! अपने आप को सामर्थ्यवान् बना, अपना जीवन यज्ञ स्वयं कर और स्वयं ही अपना फल भोग। तेरा उत्कर्ष किसी दूसरे के सहारे अर्थात् बाहर से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

यही दृढ़ "असंगशस्त्र" है और यही "तत्त्वज्ञान" है। इसी मार्ग के अवलम्बन से मानव अपने को, मुण्डक ऋषि के शब्दों में "अनीश" बिना स्वामी का होने से बचा सकता है। इस ईश्वरार्पण भावना से ही आत्मा को बल प्राप्त होगा।

४

विश्व वृक्ष के विविध नाम क्यों ?

वेद, उपनिषद् और गीता में इस विश्व वक्ष के चार नाम आये हैं (१) अश्वत्थ (२) पलाश (३) पिप्पल और (४) न्यग्रोध। इन चारों में से अश्वत्थ का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। यह ऐसा नाम है जो वेद, उपनिषद् और गीता में बार-बार आया है। इसलिए, पहले इसी नाम का विश्लेषण सहित, विचार करने के बाद हम अन्य तीन नामों के सम्बन्ध में, विश्व वृक्ष के सन्दर्भ मे, अनुशीलन करेंगे।

अश्वत्थ के दो अर्थ

"अश्वत्थ" शब्द के दो अर्थ हैं। पहला अ+श्व+त्थ। 'अ=नहीं', 'श्व=कल' 'त्थ'=रहने वाला। जो कल तक न रहे, अर्थात् अगले क्षण तक भी न टिकने वाला। "अश्वत्थ" का दूसरा पदच्छेद है, अश्व+त्थ। 'अश्व'=घोड़ा, 'त्थ'=ठहरने व बाँधे जाने का स्थान, अर्थात् जहाँ घोड़े ठहराये व बाँधे जाएँ। आध्यात्मिक दृष्टि से दोनों शब्द बड़े गम्भीर भाव के द्योतक है। दोनों पर हम क्रमशः विचार करते हैं।

यह जगत् वस्तुतः कल तक भी न ठहरने वाला, अर्थात् सर्वथा चंचल, परिवर्तन शील और क्षणभंगुर है। महाभारत के ११।४८ में व्यास मुनि कहते हैं।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ताः मरणान्तं हि जीवितम्॥

जितने संग्रह हैं सबका क्षय है, जितनी ऊँचाइयां हैं सबका पतन है, जितने संयोग हैं सबका वियोग है और जितने जीवन हैं सबका अन्त मृत्यु में निश्चित है।

कठ उपनिषद् में यम ऋषि द्वारा नचिकेता ब्रह्मचारी को तीन वर माँगने के अधिकार पर जब उसने तीसरा वर जगत् में निरन्तर—प्रतिक्षण चल रहे जन्म-मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की जिज्ञासा प्रकट करने का माँगा, तब ऋषि ने इस तरुण को विश्व के महान् से महान् दुर्लभ पदार्थों की सहज प्राप्तिका प्रलोभन देते हुए यहाँ तक कह दिया कि—

कामानां त्वा कामभाजं करोमि

जितनी तेरी कामनाएँ हो सकती हैं, उन सबकी पूर्ति तेरी इच्छा मात्र से मैं कर देता हूँ—एक प्रकार से उसे कोरा चेक दे दिया और साथ ही कह दिया कि ए भोले युवक!!

मरणं चाऽनुप्राक्षीः

इस जन्म मृत्यु के पचड़े में तू क्यों फँसता है। इससे अधिक आकर्षक और मनप्रमोदक प्रलोभन क्या हो सकता है ? पर तपस्वी, संयमी ब्रह्मचारी नचिकेता ने इसमें फंसने से इन्कार करते हुए यम ऋषि को जो उत्तर दिया, उसमें इस विश्व का रूप "श्व" शब्द द्वारा ही निरुपित किया गया है। ब्रह्मचारी कहता है—

श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्,
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्व जीवित मल्पमेव,
तवैव वाहा स्तव नृत्य गीते ।।१।२६

गुरुवर ! यह सम्पूर्ण सुख भोग मनुष्य के लिए श्वोभाव—आज है, कल नहीं है। यह भोग इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देते हैं। इन भोगों को भोगने के लिए सारा जीवन भी स्वल्प है। इनका अन्त मृत्यु में ही ह। इसलिए इस अविकल भोग सामग्री को आप अपने पास ही रखें मुझे नहीं चाहिए।

'अश्वत्थ में यही 'श्व' है जो कल तक अर्थात्, एक क्षण के बाद ही विनष्ट हो जाने वाला है। नीतिकार के शब्दों में—

नलिनी दलगत जलमति तरलम्,
तद्वज्जनीवितमतिशय चपलम्।
विद्धि व्याधिकाल ग्रस्तम्,
लोकं शोकहतं च समस्तम्।।

यह संसार कमल पत्र पर पड़े जल बिन्दु के सदृश चंचल है। इसी प्रकार जीवन अत्यन्त चंचल है, दुःख-रोग रूपी सर्पों से ग्रस्त यह लोक है और समस्त लोक शोक निमग्न हैं। एक मनुष्य जिनसे उत्पन्न होता है जिनके साथ खेलता, कूदता, पढ़ता, बढ़ता, है वे सब बिछुड़ गये। अब वह जिनसे सम्बद्ध है, उनमें भी कई संसार से जाने वाले हैं और वे नदी के तट पर स्थित वृक्ष के सदृश आसन्त पतन हैं। इन भावनाओं को मध्यकालीन संस्कृत कवि राघवदेव ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

वयं येभ्यो जाताश्चिरतरगता एव खलु ते,
समं यैः संवृद्धाः स्मरण पदवीं तेऽपि गमिताः।
इदानी मेते स्मः प्रति दिवस मासन्न पतनाः,
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिल नदी तीर तरूभिः।।

यजुर्वेद के १२।७९ और ३५।४ में कथित मन्त्र 'अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता' (जिसे हम पूर्व अध्याय दो में उद्धृत कर चुके है) अर्थात् 'हे प्राणियो !' तुम्हारा बैठना अश्वत्थ वृक्ष पर और तुम्हारा निवास पत्ते पर है" —इनकी कितनी भावपूर्ण व्याख्या अपने शब्दों में संस्कृत कवियों ने की है, यह उपर्युक्त श्लोकों से सुस्पष्ट है। भारत के सन्तों और सूफियों ने भी अपनी विशिष्ट पद्धति से इस विश्व के 'अश्वत्थ' सिद्धान्त की पुष्टि की है। सन्त कबीर के शब्द हैं—

माटी कहै कुम्हार सौं, तू क्या रूधै मोहि।
इक दिन ऐसा होयगा, मैं रूधौंगी तोहि।।

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगो कब्ब ।।
पाव पलक की सुधि नहीं, करै काल को साज।
काल अचानक मारि हैं, ज्यों तीतर को बाज ।।

गुरु नानक के यह शब्द कितने सार्थक है :—

सब कुछ जीवत को ब्योहार।
मात पिता भाई सुत बांधव, अरु पुन गृह की नार।
तन तें प्रान होत जब न्यारे, टेरत प्रेत पुकार।
आध घरी कोऊ नहिं राखें, घर तें देत निकार।
मृग तृस्ना ज्यों जग रचना, यह देखो हृदै विचार।
कहू 'नानक' भज ईश नाम, नित जा तें हो उद्धार।

कवि सूरदास कितने पश्चात्ताप की भावना से कहते हैं :—

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तरु वर के सब पात झरि जैहैं ।।
घर के कहें बेगहीं काढ़ो भूत भये कोउ खै हैं।
जा प्रीतम से प्रीति घनेरी, सोऊ देखि डरैहैं ।।
कहं वह ताल कहां वह सोभा देखत धूर उड़ैहैं।
भाई बन्धु कुटुम्ब कबीला सुमरि सुमरि पछतै हैं ।।
बिन ईश्वर कोऊ नहिं अपना जस कीरति रहि जैहैं।
सो तो 'सूर' दुर्लभ देवन को सत संगति में पैहैं ।।

कुछ सूफियों और उर्दू शायरों ने भी इस संसार की नश्वरता का हृदय ग्राही वर्णन किया है।

(१) है कौन सा कमाल कि जिसको नहीं ज़वाल।
है कौन सी नशात कि जिसको नहीं मलाल ।।
है कौन सी हयात कि जिसको नहीं ममात।
है कौन सा वह दिन कि नहीं जिसके बाद रात ।।
किस रोशनी के बाद में तारीकियां नहीं।
है कौन सी बहार कि जिसको खिजां नहीं ।।

(२) मगरूर न हो लश्करो तीरो तफंग पर।
रखता नहीं ज़माना है यह एक रंग पर ।।
सबको डुबो के रहता है गरदाबे इन्कलाब।
मछली भी होती है कभी गालिब निहंग पर ।।
कितने मुफलिस हो गए, कितने तवंगर हो गए।
खाक में जब मिल गये दोनों बराबर हो गये ।।
इस से है गरीबों को तसल्ली कि अजल ने।
मुफलिस को मारा तो न जरदार भी छोड़ा ।।

(३) करें जुदाई का किस किस की रंज हम ए ज़ौक।
कि होने वाले हैं सब हम से अनकरीब जुदा ।।

(४) जालम अजल बता दे वो मूरतें कहां हैं।
वो दिल फरेब नक्शे वो मूरतें कहाँ हैं।।
उन नेक खसलतों को मालूम है कर दिया।
बेदर्द मौत तू ने यह क्या गजब है किया।
गुलचीं का रंग तूं ने उड़ाया है ऐ अजल।
यह चुन लिए हैं फूल जो चीदाँ थे बाग में।।

(५) बहारे बाग दो दिन है गनीमत जान ए बुलबुल।
जरा हंस बोल ले जमजमा परवाज चह चह कर।।

उर्दू के महाकवि अकबर के कुछ चुभते शेर इस विषय में हैं—

(१) कोई मरे तो पूछ कि क्या ले गया वह साथ।
बिल्कुल फजूल बहस है वह छोड़ क्या गया।।

(२) तंग दुनिया से दिल इस दौरे फलक में आ गया।
जिस जगह मैंने बनाया घर सड़क में आ गया।।

(३) एक दिन और कयामत खिसक आएगी इधर।
और क्या अर्ज करूं आपसे कल क्या हो गया।।

(४) जी उठा मरने से वह जिस की खुदा पर थी नजर।
जिसने दुनिया ही को पाया था वह सब खो के मर गया।।

जगत् मिथ्या नहीं है—एक सत्य है

यहाँ एक प्रश्न पैदा हो सकता है। जग संसार अ+श्व+त्थ, क्षणभंगुर है तो फिर यहां रहने और विविध प्रकार के कार्य-कलाप में ग्रस्त होने की क्या आवश्यकता है। क्यों न पश्चिम के एक मतवाद की तरह 'आत्म हत्या' कर जंजाल से अविलम्ब छुटकारा पा लिया जाए? क्यों न नवीन वेदान्त के सिद्धान्त जगन्मिथ्या" को ही अपना कर निष्क्रिय बन जीवन व्यतीत किया जाए? पर इस प्रकार के दृष्टि-कोण और मन्तव्य सर्वथा अशुद्ध, हानिकारक ओर वेद विरुद्ध हैं।

सबसे प्रथम सदा स्मरणीय सत्य यह है कि मनुष्य विशेषतः, और सामान्यतः, कोई भी प्राणी एक क्षण के लिए भी सर्वथा क्रिया शून्य नहीं रह सकता। अगर कोई व्यक्ति कुछ समय के लिए बाह्य इन्द्रियों से किसी प्रकार की चेष्टा व कर्म न भी करे, पर जब तक वह जीवित है उसका श्वास-प्रश्वास तो अनवरत चलेगा ही, भूख-प्यास भी सताएगी। शरीर की आभ्यन्तरिक प्रक्रियाएं—रक्त गति इत्यादि प्रवर्तित होती रहेंगी, जठराग्नि की पाक क्रिया जारी रहेगी। फलतः, देह के भीतर समस्त स्वाभाविक कार्य होते रहेंगे जिन्हें बाहर से, बहुधा देखा व जाना नहीं जा सकता। और फिर मन, यह भी तो सांख्य के सूत्र उभयात्मकं मनः के अनुसार ११वीं इन्द्रिय है। क्या यह एक क्षण के लिए भी निष्क्रिय हो सकता है? जागृत अवस्था की तो क्या बात, यह तो सोते हुए भी ताना-बाना बुनता रहता है। गीता में श्री कृष्ण ने निम्न दो श्लोकों से इसी सिद्धान्त का उत्तम शब्दों में प्रतिपादन किया है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।। ३।५, ६

कोई भी प्राणि कुछ न कुछ कर्म किये बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। प्रकृति के गुण प्रत्येक प्राणी को सदा कर्म करने के लिए बाध्य करते रहते हैं। जो मूर्ख मनुष्य इन कर्मेन्द्रियों को रोक मन से इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करता रहता है, वह मिथ्याचारी और मूढ़मति है।

जगत् साधन है, साध्य नहीं

जब हम विश्व को नश्वर, क्षणभंगुर और अ+श्व+त्थ कहते हैं तब उसका अभिप्राय यही होता है कि मानव इस संसार को साधन मात्र समझे, साध्य नहीं। संस्कृत के शब्द "जगत्" और "संसार" में यही तथ्य अन्तर्निहित है। "जगत्" शब्द "गच्छ" धातु से बना है जिसका अर्थ है "गच्छतीति जगत्"—जो गतिशील है, वह जगत् है। गति चतुर्दिक् पूर्णतः होनी चाहिए, आंशिक नहीं, तभी गति की सफलता है। इसीलिए जगत् को "संयोगवियोगात्मकं जगत्" कहा गया है, अर्थात् गतिशीलता ऐसी जिसमें संयोग और वियोग—मिलना और अलग होना—दोनों प्रतिक्षण अबाध गति से चलते हैं। ससार शब्द सम् उपसर्ग "सृ गतौ" धातु से बनता है, अर्थात् सम्यक् प्रकार से जो गतिशील है, वह संसार है। इस प्रकार "जगत्" और "संसार" शब्दों में गतिशीलता स्वतः सिद्ध है।

वैदिक वाङ्मय में "अ+श्व+त्थ" शब्द के संकेत से यही अभिप्रेत है कि इसमें निर्माण-विनाश, स्थिरता-अस्थिरता, सृष्टि-विसृष्टि, रचना–संहार प्रकृति-विकृति, संयोग-वियोग, एकता-अनेकता, संहति-विभेद, उत्थान-पतन सादृश्य-असादृश्य, समता-विषमता—इत्यादि सब द्वन्द्व अन्तर्भुक्त हैं। वस्तुतः यह विश्व द्वन्द्वात्मक ही हैं। पर इस द्वन्द्वात्मक विश्व का एक सिद्धान्त कभी दृष्टि से ओझल नहीं किया जाना चाहिए। जब इस संसार को क्षणभंगुर "अश्वत्थ" कहा जाता है, तब, यह सर्वथा सत्य है कि एक क्षण का तो इस का अस्तित्व विवादास्पद नहीं है। फलतः, जिस क्षण में विश्व का अस्तित्व अविवादास्पद है उस से तो लाभ उठाना ही चाहिए, उसका सदुपयोग तो अवश्य होना चाहिए। इस से असंभिन्न यह भी ध्यान में रखा जाए कि निर्माण और संयोग के इस क्षण के बाद विनाश और वियोग का क्षण अपरिहार्य है। इस प्रकार दोनों क्षणों का जीवन में पूर्णतः, समन्वय होना चाहिए। "क्षणभंगुर" अथवा "अश्वत्थ" का यही भाव है। सामान्य भाषा में यही "जन्म-मृत्यु" का चक्र कहा जाता है। गीता के शब्दों में—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना।। २।२७-२८

जो जन्मता है, उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसकी मृत्यु है, उसका जन्म निश्चित है। इसलिए इस अटल और अडिग स्थिति को जानते हुए शोक करने की आवश्यकता नहीं। यह सृष्टि प्रारम्भ में नहीं थी, इसका अन्त विनाश के रूप में है,

केवल मध्य में इसका अस्तित्व है। हे अर्जुन! इस अविचल ईश्वरीय व्यवस्था का स्मरण करते हुए शोक करने की क्या बात है?

द्वन्द्वात्मक जगत् के साधन से ही मोक्ष प्राप्ति

इस द्वन्द्वात्मक जगत् की उपर्युक्त स्थिति के बीच एक अटल सिद्धान्त का भी यहां उल्लेख करना आवश्यक है जो वैदिक धर्म का मूलभूत है। क्षणभंगुर काय-रूप जगत् ही है पर इस ब्रह्माण्ड में दो शक्तियां हैं, जो सर्वथा अविनाशी और सदा नित्य स्थायी हैं। एक का नाम ब्रह्म है जिसे परमात्मा, ईश्वर इत्यादि अनेक नामों से कहा जाता है और दूसरा आत्मा व जीव। यह दोनों कार्य-कारण रूप रहित स्वतः सिद्ध, सूक्ष्माऽतिक्ष्म, इन्द्रियों और मनके विषय से रहित और प्रत्येक प्राणिमें एक साथ स्थित हैं। ब्रह्म सर्व व्यापक, सर्व देशी, एकसम, एकसदृश, रूप रहित सृष्टि कर्त्ता, धर्त्ता और संहर्त्ता इत्यादि और जीवात्मा के कर्मों का द्रष्टा और फलदाता है। जीव एकदेशी, सूक्ष्माऽतिसूक्ष्म नित्य, स्थिर, अविनाशी रूप-रंग रहित, कर्मकर्त्ता, फल-भोक्ता ईश्वर के नियमों के अनुसार विभिन्न योनियों में शरीर धारण कर आवागमन करता हुआ जन्म-मृत्यु के चक्र में आता है। परमात्मा ने यह स्थूल जगत् जीवात्मा को कर्मानुसार फलभोगने, कर्म करने और अन्त में मोक्ष पद प्राप्त करने के लिए निर्मित किया है।

कठ उपनिषद् में वर्णित विश्व वृक्ष का गीता के १५।१-२,३ श्लोकों में अधिक विस्तार और आकर्षक रूप में वर्णन किया गया है। ब्रह्म, जीव और प्रकृति-इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्धों का गीता के पूर्वोक्त सन्दर्भ में सुन्दर विस्तार है। इस 'अश्वत्थ' वृक्ष का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसकी शाखाएँ चतुर्दिक् विस्तृत हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों से ये वृद्धि को प्राप्त हो रही हैं। विश्व के विविध विषय और भोग इस वृक्ष की कोपलें हैं। नाना योनियां इसकी जड़ें हैं जो विश्व में विस्तृत हो रही हैं। इस महान् विश्व का जड़ चेतन रूप में इतना विस्तार हैं कि विश्व का वास्तविक रूप और इसका आदि-अन्त दिखाई नहीं पड़ता। जो श्रेष्ठ मनुष्य ज्ञान और वैराग्य रूपी शस्त्र से इस अश्वत्थ के दृढ़ मूल को काट देता है वही मोक्ष रूप परमपद को प्राप्त करता है। "अश्वत्थ" वृक्ष का अभि-प्राय, निश्चित रूप से प्रकृति ही है। यह गीता के इन श्लोकों में प्रयुक्त "गुण प्रवृद्धाः" और "विषय प्रवालाः" इन विशेषणों से अभिव्यक्त कर दिया गया है। यहाँ सत्त्व, रजस्, तमस् गुण प्रकृति के ही बताये गये हैं। ये ही इस विश्व वृक्ष की अभिवृद्धि करने वाले हैं, ईश्वरीय शक्ति से जब इन गुणों में विक्षोभ होता है, तब विषमावस्था का प्रादुर्भाव होने से सृष्टि उत्पत्ति होती है। जिस समय इन गुणों की साम्यावस्था होती है तब "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" सांख्यदर्शन के १।२६ के इस सूत्र के अनुसार प्रकृति अपने स्वरूप में रहती है। यही प्रलय काल है। इन्द्रियों के विषय ही भोग हैं। प्रकृति वृक्ष में यह भोग रूपी फल निरन्तर प्रकट होते रहते हैं। जीवात्मा शरीर धारण कर इन विषयों को भोगता और बन्धन में आता रहता है। विषयों में लिप्त होना ही बन्धन और इनसे विनिवृत्त होना ही मोक्ष है।

नवीन वेदान्तियों की दम्भ वृत्ति

इस विश्व की क्षणभंगुरता का इतने विस्तार से हमने इस लिए वर्णन किया क्योंकि नवीन वेदान्ती—जिन्हें महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के आठवें समुल्लास

आठवां नास्तिक कहा है—इस शब्द की आड़ में अकर्मण्यता, निष्क्रियता और पुरुषार्थ हीनता का प्रचार करते हैं। यह नवीन वेदान्ती संसार के सारे धन्धे करते हैं और संन्यासी रूप में आश्रम-मठ-पीठ इत्यादि की स्थापना, संचालन, विविध, व्यवस्थाएँ इत्यादि करते हैं। जब इनसे पूछा जाता है कि "जब संसार क्षणभंगुर है, तब आपने यह इतनी सम्पत्ति, कारोबार और गृहस्थ का प्रपंच क्यों रच रखा है ?" तब वह यह कह कर अपना छुटकारा करते हैं कि "यह तो दृश्य जगत् के व्यवहार हैं, करने ही पड़ते हैं पर हमारा ध्यान तो अदृश्य की ओर ही है।" इस प्रकार मनुष्य को दम्भ-वृत्ति का अवलम्बन करने के लिए बाध्य करते हैं। शंकराचार्य ने अपनी पुस्तक-विवेक चूड़ामणि के=जीवन्मुक्त के लक्षण" प्रकरण के निम्नलिखित श्लोक संख्या ४३० में इसी दम्भ वृत्ति को जीवन्मुक्त के लिए समुचित ठहराया है :—

लीनधीरपि जागर्ति यो जाग्रद्धर्म वर्जितः।
बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते॥

गीता प्रेस, गोरख पुर द्वारा प्रकाशित नवें संस्करण में पृष्ठ १४० पर इसकी व्याख्या इन शब्दों में की गयी है :—

> **"वृत्ति के लीन रहते हुए भी जो जागता रहता है किन्तु वास्तव में जो जागृति के धर्मों से रहित है तथा जिसका बोध सर्वथा वासना रहित है, वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है :"**
>
> **इसका अभिप्राय यह है कि "यद्यपि इसका चित्त सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों को बांध कर के निरन्तर ब्रह्म में लीन रहता है, तथापि वह सोये हुए पुरुषों के समान संज्ञाशून्य नहीं हो जाता, सब व्यवहार यथावत्-करता रहता है।"**

सर्प की दो जिह्वाओं के समान क्या इस श्लोक द्वारा जीवन्मुक्त मनुष्य के लिए "सोये हुए और जागते हुए" शब्दों की आड़ में संसार के प्रति दोमुही वृत्ति धारण करने की शिक्षा शंकर स्वामी नहीं दे रहे ? क्या यह दम्भ वृत्ति को प्रकारान्तर से अपनाने का उपदेश नहीं है ? इस लिए "क्षणभंगुर" की जो व्याख्या हमने ऊपर की है, वही मान्य है।

इस संसार को मोक्षपद का साधन मानते हुए मानव का जीवन लक्ष्य क्या होना चाहिए—इसका बड़ा सारपूर्ण उत्तर केन उपनिषद् के निम्न-श्लोक में दिया गया है—

इह चेदवेवीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥२।५

इस संसार में रहते हुए ही यदि मनुष्य ने जीवन के लक्ष्य—आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान-को प्राप्त कर लिया, तब तो उसका जीवन सार्थक हो गया, यदि इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं की, तब निश्चय ही उसके लिए भारी विनाश ही है। धीर पुरुष इस संसार के प्रत्येक प्राणि और प्रत्येक पदार्थ—चतेन-जड़ पर गम्भीरता से चिन्तन कर मूलतत्व को जान लेते हैं। इसके बाद जन्म मृत्यु के चक्र से छूट कर अमृत पद को प्राप्त करते हैं।

यह सत्य दृढ़ता के साथ हृदयंगम कर लेना होगा कि इस विश्व को अनित्य मानते हुए भी वैदिकधर्म इसी के द्वारा मोक्ष पद प्राप्ति का मार्ग बताता है। यहाँ से भाग

जाने अथवा अन्य किसी जगत् की कल्पना करने में नहीं। आज की पाश्चात्य विचार धारा से प्रभावित कुछ विचारक जिस पलायनवाद का प्रचार कर रहे है। वैदिकधर्म में उसके लिए कोई स्थान नहीं है। इसके साथ ही अविच्छिन्न सत्य यह भी है कि आनन्द व अमृत पद की प्राप्ति मानव देह और मनुष्य योनि में ही हो सकती है, अन्य किसी मानवेतर देह में नहीं। इस सम्बन्ध में एक शिक्षा पद आख्यान ऐतरेय उपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय खंड में आता है।

मानव योनि सर्वश्रेष्ठ : मोक्ष का एकमात्र साधन

ब्रह्म ने जब विराट्-पुरुष अर्थात् इस सृष्टि को बनाया तब इसके आठ लोक पाल अर्थात्, निर्देशक और प्रकाश संकेत भी बनाये जिन के नाम हैं (१) अग्नि (२) वायु (३) आदित्य (४) दिशाएं (५) वनस्पति (६) चन्द्रमा (७) मृत्यु-दुःख (८) जल-वीर्य।

अब ब्रह्म के सम्मुख प्रश्न आया कि इन आठों लोकपालों को किस शरीर में स्थान दिया जाए? बिना ठिकाना बनाये इनका टिक सकना कैसे सम्भव होगा? फिर भूख और प्यास (अशना-पिपासा) भी इनके साथ जुड़ गये। अब यह सब देवता व्याकुल हो ब्रह्म से बोले—

"ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि।
यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥

भगवन्! हमारा भी तो कोई ठिकाना बनाइए, "जहां रहकर हम खाएं पीएं।" ब्रह्मा ने इनके लिए पहले एक गौ बनायी और आठों से कहा, इसमें जाकर निवास करो।" यह वहाँ गये और तत्काल वापस आ बोले—यह शरीर हमारे लिए पर्याप्त नहीं हैं। हमें कोई अन्य शरीर दीजिए। तब ब्रह्मा ने घोड़े का देह इनके सम्मुख खड़ा कर इस में निवास करने के लिए कहा। यह आठों लोकपाल इस शरीर में जा तत्काल वापस आकर बोले—भगवन्! यह भी हमारी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है।" कुछ देर गम्भीर चिन्तन के पश्चात् ब्रह्मा ने मनुष्य शरीर इन लोकपालों के समक्ष उपस्थित किया। अब यह देवता सहर्ष बोले—

ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति, पुरुषो वाव सुकृतम्।
ता अब्रवीद्यथाऽयतनं प्रविशतेति प्रविशेति ॥ ऐतरेय उप० ॥ १।२।३

"अहो! यह तो बड़ा अच्छा शरीर है।" निःसन्देह, यह मानवदेह विधाता की श्रेष्ठतम और सुन्दरतम कृति है। उपनिषद् में इसे "सुकृतम्" कहा गया है। ब्रह्मा ने कहा—"जिस जिसका जहां समुचित स्थान है, वह उस उसमें प्रविष्ट हो जाए।" इसी उपनिषद् के अनुसार "अशना-पिपासा" (भूख-प्यास) ने ब्रह्मा से कहा—हमें आपने उत्पन्न तो कर दिया, अब हमारे लिए ठिकाना भी बनाइए" ब्रह्म ने कहा—इन्हीं आठ देवताओं के साथ ही तुम्हें संयुक्त कर देता हूं, इन्हीं का तुम्हें भागीदार बना देता हूँ। इसलिए जिस किसी देवता को हवि दी जाती है उसमें "अशना-पिपासा (भूख-प्यास) भी भागीदार होते हैं।"

इस सारे प्रकरण का सार यह है कि यद्यपि यह जगत् "अश्वत्थ" क्षणभंगुर—कल तक न रहने वाला है—पर इसका अस्तित्व निःशंक और निस्सन्देह है। मानव इस

के अस्तित्व से अपने को विमुख नहीं कर सकता। इस विश्व के अस्तित्व के साथ मानव का अविच्छिन्न और अपरिहार्य सम्बन्ध है। मानव के लिए सम्भव नहीं कि वह स्वयं किसी पृथक् पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, सूर्य, चन्द्र आदि का अंशमात्र भी निर्माण कर सके मानव को इसी विश्व में रहना होगा और इसी में रहते हुए कर्म करते हुए सुख-दुःख मरण-मोक्ष, आनन्द अमृत—प्राप्त करने होंगे। साथ ही मानव देह ब्रह्म की सर्वोत्तम कृति है।

परिणामस्वरूप, यद्यपि यह विश्व "अश्वत्थ" क्षणभंगुर है पर साथ ही मनुष्य-मनुष्य योनि और विश्व इन तीनों का आपस में अभिन्न, अकाट्य और शाश्वत सम्बन्ध इसी में है। इस विश्व में जड़ चेतन स्वरूप अनेक प्रकार की सृष्टि है। जड़ जगत् में एक से एक अधिक आश्चर्य जनक मानव बुद्धि से अगम्य पदार्थ हैं। चेतन जगत् में भी असंख्य योनियां हैं और इन पशु-पक्षी-कीट-पतंग इत्यादि के व्यवहार कार्य और स्वरूप बड़े अद्भुत और शिक्षाप्रद भी हैं। पर इनके यह सब कार्य इन जीवों के आदि सृष्टि से लेकर अद्यन्तन और भविष्य में भी सहज-बुद्धि प्रादुर्भूत परम्परागत, अपरिवर्तन शील ही हैं। एक मनुष्य ही ऐसा प्राणि है जो सहज बुद्धि के अतिरिक्त अर्जित ज्ञान और परिवर्तन शील बुद्धि व स्वभाव से उत्थान और पतन के मार्ग पर यात्रा करने की स्वतन्त्रता रखता है। वेद की आज्ञा अनुसार यदि मनुष्य, वस्तुतः, "मनुर्भव" सन्मनुष्य बनने की ओर सतत प्रयत्नशील रहे, तभी, उसकी श्रेष्ठतम योनि का और संयोग वियोगात्मक इस विशाल विश्व में उसके अस्तित्व की सार्थकता हो सकती है।

"आश्वत्थ" वृक्ष की प्रशंसामें एक संस्कृत कवि ने बड़ा सुन्दर श्लोक कहा है जो इस प्रकार है—

वर्धितैः सेवितैः किं तैः सत्यश्वत्थेऽन्यपादपैः।
वर्धितो नरकात् रक्षेत् स्पृष्टोऽरिष्टानि हन्ति यः॥

अर्थ-अश्वास्थ वृक्ष के रहते अन्य किसी वृक्ष को बढ़ाने और सेवा करने से क्या लाभ? क्योंकि इस वृक्ष की वृद्धि से नरक-दुःख-से छूटकारा होता है और स्पर्श करने से, उपभोग करने से, कष्टों का नाश होता है।

५

अश्वत्थ का अन्य अर्थ

बृहदारण्यक उपनिषद् के आरम्भ में इस सृष्टि को "अश्व" कहा गया है। इसका अभिप्राय है "अश्" अर्थात् "भोजन" मिल जाने का स्थान। इस सृष्टि द्वारा ही प्राणिमात्र को भोजन, अर्थात् उपभोग्य वस्तुओं की प्राप्ति होती है। "अश्व" का अर्थ जब घोड़ा अर्थात् वाहन लिया जाएगा, क्योंकि इस शब्द का धात्वर्थ शीघ्र गति करना भी है तब इसका अभिप्राय होगा कि जीवन यात्रा का वाहन, अर्थात् साधन, और साधनों के बिना यात्रा नहीं हो सकती। लोक में यात्री को यात्रा के साधन

अश्वं इत्यादि की आवश्यकता होती है। इस विश्व में आत्मा ही यात्री हैं। मोक्ष धाम पहुँचने तक प्रत्येक अनवरत रूप से यात्रा करता हुआ अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों को प्राप्त होता है। मोक्ष की अवधि समाप्त कर उसका पुनरावर्तन इस विश्व में उत्कृष्ट मानव के रूप में होता है। यही आत्मा की यात्रा है।

आत्मा यात्री, इन्द्रियाँ वाहन

आत्मा की इस यात्रा के वाहन क्या हैं? आत्मा स्वयं तो निराकार, सूक्ष्माऽति सूक्ष्म अणु अर्थात् एक स्थान पर ही स्थित है। तब किस प्रकार के वाहनों द्वारा वह अपनी यात्रा पूरी कर सकेगा? यह वाहन "इन्द्रियां" ही हैं। इन इन्द्रियों को ही "अश्व" कहा जाता है। कठ उपनिषद् में एक सुन्दर अलंकार से इन्द्रियों को अश्व (घोड़ा) और आत्मा को इन्द्रियों का स्वामी बताया गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथ मेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहु र्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रिय मनो युक्तं भोक्तेत्याहु र्मनीषिणः॥ ३।३, ४

यह शरीर एक रथ के सदृश है। इसका स्वामी आत्मा है, वह रथी है। बुद्धि आत्मा की सारथी है और मन लगाम है। इंद्रियां घोड़े हैं और इन्द्रियों के विषय वे मार्ग हैं जिन पर इन्द्रियाँ रूपी घोड़े दौड़ते हैं। मनीषी व्यक्ति आत्मा, इन्द्रिया और मन इन्हें मिलाकर भोक्ता कहते हैं।" अतः "अश्वत्थ" का अर्थ हुआ "वह स्थान जहां इन्द्रियाँ रूपी अश्व बांधे जाएं, रखे, ठहराये व संभाले जाएं।" यह स्थान है, शरीर जिसका स्वामी आत्मा है। पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियाँ और ग्याहरवां मन— ये सब आत्मा रूपी यात्री के वाहन, अर्थात्, साधन हैं। शरीर का लक्षण ही न्यायदर्शन में किया गया है, जो चेष्टा युक्त इन्द्रियों का स्थान हो। न्याय दर्शन का सूत्र है—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्॥१।१।११

जिसमें रहती हुई इन्द्रियाँ अपनी चेष्टा कर सकती हैं, वही शरीर हैं। यह क्रिया उसी शरीर में हो सकती है जिसमें आत्मा उपस्थित हो। इन्द्रियां तो मृत शरीर में भी विद्यमान होती हैं। पर वे चेष्टा रहित होने से बेकार होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं और उसके नाम इस प्रकार है (१) गँध के लिए नासिका (२) चखने व स्वाद के लिए रसना (३) देखने के लिए चक्षु (४) स्पर्श के लिए समस्त शरीर पर चिपटी त्वचा (५) सुनने के लिए कान। कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं (१) दो हाथ (२) दो पैर (३) गुदा मलत्याग का मार्ग (४) उपस्थ-मूत्रत्याग का मार्ग (५) वाणी बोलने के लिए। वाणी जब चखती व स्वादु-अस्वादु की परख करती हैं तब उसे रसना कहा जाता है और जब शब्द उच्चाचरण करती है, तब उसे वाक् व जिह्वा कहा जाता है। एक प्रकार से यह इन्द्रिय दोनों काम करती हैं। पांचों ज्ञानेन्द्रियों का सम्बन्ध पंचमहाभूतों से हैं, जैसे (१) नासिका का पृथ्वी से (२) रसना का अप (जल) से (३) चक्षु का तेज (अग्नि) से (४) त्वचा का वायु से (५) कान का आकाश से। इन पंच महाभूतों के गुणों को धारण करने वाली पांचों ज्ञानेद्रियों द्वारा शरीरका अनवरत सम्बन्ध ब्रह्माण्ड से रहता है। इसीलिए शास्त्र कहते हैं कि 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' जो

जो नियम और पंचतत्व इस पिंड (शरीर) में कार्यशील हैं वही ब्रह्माण्ड (विश्व) में हैं। दोनों का एक दूसरे के साथ सतत और अटूट सम्बन्ध है। पाँचों कर्मेन्द्रियाँ पांचों ज्ञानेन्द्रियों के आधीन है। ज्ञानेन्द्रियों की प्रेरणा से ही कर्मेन्द्रियां कार्य करती हैं, स्वतः नहीं। यह दसों इन्द्रियां मन के आधीन हैं। मन की गणना ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों में की जाती हैं जिस पर संयम रखने से ही इन्द्रियां काबू में रहती हैं। इसलिए मन को ग्याहरवीं इन्द्रिय माना गया है। सांख्य दर्शन का सूत्र "उभयात्मक मनः" (२। २६), इसी की पुष्टि करता है। मन बुद्धि के और बुद्धि आत्मा के नियंत्रण में रहें, तभी यह रथ ठीक प्रकार चल सकता है।

आत्मा शरीर का स्वामी

आत्मा इस शरीर का राजा है। उसके आधीन बुद्धि, मन और इन्द्रियां यदि रहें तभी जीवन की सार्थकता है। अगर इसके विपरीत स्थिति हो जाए, अर्थात् इन्द्रियां विषयोन्मुख होकर स्वामी पद संभाल लें और मन उनके नीचे, बुद्धि मन की दास और आत्मा सबसे नीचे, तो वही स्थिति हो जाएगी जो सड़क पर गिरी हुई उस मोटर गाड़ी की होती है जिसके नीचे गाड़ी का स्वामी मूर्च्छित औंधे मुंह पड़ा होता है, उसके ऊपर मोटर का चालक और दोनों के ऊपर मोटर गाड़ी उलटी पड़ी होती हैं। कठ उपनिषद् में इस सिद्धान्त को यम ऋषि ने बड़े भावपूर्ण और सार्थक शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :—

(१) इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धि बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ ३।१०।

शरीर में इन्द्रियों के विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द—सूक्ष्म हैं। इन्द्रियां तो दिखाई देती हैं पर ये विषय दिखाई नहीं देते। इन विषयों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है और मन की अपेक्षा बुद्धि सूक्ष्म है। बुद्धि की अपेक्षा यह आत्मा महान् हैं, दूर है और अति सूक्ष्म है।

इन इन्द्रियों को वश में करना चाहिए। इस का क्या उपाय है, यम ऋषि के शब्दों में :—

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ३।६

जिसने रथ रूपी शरीर की इन्द्रियों के वास्तविक रूप को जान लिया है और जिसका मन सदा आत्मा के अधीन रहता है, इन्द्रियाँ उसी के वश में रहती हैं, जैसे अच्छे घोड़े सारथि के काबू में रहते हैं।

इस लिए बुद्धिमान् मनुष्य क्या करे—ऋषि कहते हैं :—

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तत् यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ ३।१३

श्रेय मार्ग के पथिक को चाहिए कि अपनी वाणी आदि इन्द्रियों और मन को नियंत्रण में करे और इसके बाद इन्हें आत्मा में ज्ञान के साथ सयुक्त कर दे। आत्मा के इस ज्ञान को महानता का रूप दे अर्थात् ज्ञान ऐसा हो जो महानता, उच्चता, उदारता, विशालता इत्यादि गुण युक्त हो। ज्ञान संकुचित और कलुषित न हो। ऐसा ज्ञान तो "अज्ञान" होकर घातक बन जायेगा। आत्मा को महानता का रूप देने के लिए महानतम परमात्मा की ओर प्रेरित करना होगा। इस प्रकार की महानता से आत्मा को शान्ति प्राप्त होगी। ऋषि ने इस श्लोक में आत्म-विकास के तीन क्रम बताये हैं "ज्ञानात्मा", "महानात्मा" और "शान्तात्मा"।

इन्द्रियां चंचल : संयम के उपाय

कठ उपनिषद् के इन वचनों से "अश्वत्थ" के इस अर्थ की कि "जहाँ इन्द्रियाँ स्थिर की जाएं, वह शरीर"—समीचीन व्याख्या हो जाती है। इसी की पुष्टि मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय के निम्न श्लोकों में विशद रूप से की गयी है—

(१) इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥९३॥

इन्द्रियों की दासता से, निश्चय ही, दोष को प्राप्त होता है। इन पर संयम करने से ही सफलता प्राप्त होती है।

(२) न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥९४॥

इन्द्रियों की इच्छाओं का भोग करने से वह कभी शान्त नहीं हो सकतीं। अग्नि में घी डालने के सदृश इन्द्रियों की भोग प्रवृत्ति बढ़ती ही जाएगी।

(३) इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥९९॥

सब इन्द्रियों में से यदि एक इन्द्रिय के विषय में भी मानव फंस जाए, तब भी उसकी शक्ति निरन्तर क्षीण होती जाती है, जैसे किसी जलपात्र में छेद होने से सारा जल बह जाता है।

(४) यश्चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान्
केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो
विशिष्यते ॥९५॥

जो मनुष्य इन इन्द्रियों के योग में आसक्त रहता है और जो इनका त्याग करता है, इन दोनों में से इन्द्रियों की आसक्ति की अपेक्षा इनका त्याग ही अधिक अच्छा है। पर इन इन्द्रियों को वश में करने का उपाय क्या है—मनु महाराज कहते हैं—

(५) न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥९६॥

इन इन्द्रियों को विषयों की सेवा में केवल न लगाने से ही वश में नहीं किया जा सकता। निरन्तर ज्ञान प्राप्ति ही इसका सर्वोत्तम उपाय है।

जितेन्द्रिय किसे कहते हैं—इसका बड़ा सुन्दर लक्षण मनु महाराज ने इसी अध्याय के निम्न श्लोक में किया है—

(६) श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥६८॥

जो व्यक्ति सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर, सूँघकर न हर्ष करता है और न शोक करता है, वही जितेन्द्रिय जानना चाहिए।

इन्द्रियों को संयम में कैसे करे—मनु घोड़े की उपमा से स्पष्ट करते हैं—

(७) इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनम् ।।२।८८

जैसे विद्वान् सारथि घोड़ों को नियम में रखता है, वैसे ही मन और आत्मा को विषयों की ओर खींचने वाली इन्द्रियों के निग्रह में सदा प्रयत्नशील रहे। जो विषयी पुरुष है, वह कभी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। मनु कहते हैं—

(८) वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमास्तश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धि गच्छन्ति कर्हिचिद् ।।२।९७

जो दुष्टाचारी अजितेन्द्रिय पुरुष है, उसके लिए वेद, त्याग, यज्ञ, नियम, तप और अच्छे काम सिद्धि देने वाले नहीं होते।

इन्द्रियों की इस सहज चंचलता को दृष्टि में रखते हुए ही वेद में भक्त बड़ी विनम्रता से प्रभु से प्रार्थना करता है—

ओ३म्। इमानि यानि पंचेन्द्रियाणि मनः
षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोरं
तैरेव शान्तिरस्तु नः ।। अथर्व १९।९।५।

ये जो पांच इन्द्रियाँ हैं और जिनके साथ छठा मन है, ईश्वर कृपा से जिनका तीव्रता के साथ मेरे हृदय में स्थान है, जिनके द्वारा ही भयंकर कार्य किये जाते हैं, इन इन्द्रियों और मन के द्वारा ही हमें शान्ति प्राप्त हो।

क्या इन्द्रिय नाश संयम का उपाय है ?

प्रश्न पैदा होता है कि जब इन इंद्रियों द्वारा इतने भयंकर परिणामों की संभावना है और जब ये बारम्बार कुमार्ग की ओर प्रेरित करती है, तब क्यों न इनका नाश ही कर दिया जाए ? "न रहेगा बाँस न बजेगी बांसुरी"—कुछ लोग ऐसा ही कहते और मानते हैं। इतिहास में ऐसी कई घटनाएँ मिलती है जहां इस भ्रान्त धारणा का शिकार हो व्यक्ति ने अपनी किसी इन्द्रिय का नाश ही कर दिया।

बौद्ध इतिहास की घटना है। एक युवक बौद्ध भिक्षु किसी गृहस्थ के घर

भिक्षा मांगने गया। वहाँ एक रूपवती कन्या को देख मुग्ध हो गया और कन्या भी उस युवक की ओर विशेष आकृष्ट हो गयी। भिक्षु ने बिहार में वापस आ, अपनी इस मानसिक निर्बलता का वर्णन अपने गुरु से किया। उसने भिक्षु को आदेश दिया कि वह अपनी दोनों आँखें फोड़ दे। शिष्य ने गुरु के आदेश का तत्काल पालन किया। पर क्या यह समुचित कहा जा सकता है? क्या आंख फोड़ देने मात्र से उस रूपवती कन्या का ध्यान उसके मन से निकल जाएगा? मानसिक वासना तो फिर भी रहेगी। क्या आंख का नाश करके इस युवक ने अपने आपको आजन्म प्रभु की सुरम्य सृष्टि के दर्शन, महापुरुषों के साक्षात्कार और सत् ग्रन्थों के पठन-पाठन से वंचित नहीं कर लिया। क्या वह समस्त आयु के लिए दूसरों पर आश्रित नहीं हो गया? इसी प्रकार एक ऋषि बालक द्वारा अपने भाई के उद्यान में से फल को चोरी से वृक्ष से तोड़ लेने पर दंडस्वरूप अपने हाथ को काट लेने का वर्णन भी मिलता है। कुछ भावुक व्यक्ति अपनी काम वासना पर विजय प्राप्त करने के लिए अथवा काम के आवेग का निरोध करने में अपने को अशक्त समझ गुप्तेन्द्रिय को ही काट डालते देखे गये हैं। हम स्वयं एक ऐसे व्यक्ति को जानते हैं जो सुपठित और सामाजिक कार्यकर्त्ता था। उसने अपनी गुप्तेन्द्रिय काट डाली थी। पर उसके जीवन में एक समय ऐसा आया जब उसे विवाह करने की प्रबल आकांक्षा हुई। विवाह हो गया। पत्नी आयी और आते ही पति की यह स्थिति देखी। तब उसे बड़ी घृणा हुई। यह घृणा कुछ ही दिनों में भयंकर पारस्परिक कलह में परिणत हो गयी। परिणामतः, उसकी पत्नी उसे छोड़ किसी दूसरे के साथ भाग गयी। अब उस सामाजिक कार्यकर्त्ता का जीवन पहले से भी अधिक दुःखपूर्ण हो गया।

सूरदास का पछतावा

हिन्दी के सुविख्यात कवि और लेखक श्री रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक "कविता कौमुदी" में सूरदास कवि का परिचय देते हुए लिखा है—

सूरदास जन्म के अन्धे न थे। ऐसी कहावत है कि एक बार ये एक युवती को देखकर उस पर मुग्ध हो गए। उसकी ओर एकटक ताकते हुए ये बहुत देर तक खड़े रहे। अन्त में वह युवती इनके पास स्वयं आयी और कहने लगी—"महाराज, क्या आज्ञा है?" सूरदास को उस समय अपनी स्थिति पर बड़ी लज्जा आयी। इन्होंने यह दोष आँखों का समझ कर उस युवती को कहा कि "यदि तुम मेरी आज्ञा मानती हो तो सुई से मेरी दोनों आंखें फोड़ दो।" युवती ने आज्ञानुसार ऐसा ही किया। तब से सूरदास अंधे हो गये। भक्तमाल में लिखा है कि सूरदास जन्म के अंधे थे। परन्तु इस पर सहसा विश्वास नहीं होता, क्योंकि इन्होंने अपनी कविता में रंगों का, ज्योति का और अनेक प्रकार के हाव-भावों का ऐसा यथार्थ वर्णन किया है जो बिना आँख से देखे, केवल सुनकर, नहीं किया जा सकता।"

(पृ० १६२, १६५४ का आठवां संस्करण)

ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी आखों का इस प्रकार विनाश कर सूरदास को जीवन में पछतावा भी हुआ। वे अपने एक पद में कहते हैं—

ऊधो! अँखियां अति अनुरागी।
इक टक मग जोवति अरु रोवति भूलेहु पलक न लागी॥

इन्द्रिय नाश से पाप नाश नहीं होता। श्री कृष्ण ने गीता के ३।६ श्लोक में इसे मिथ्याचार नाम दिया है। इसलिए उत्तम पुरुष कौन है—इसका उत्तर गीता में इस प्रकार दिया गया है—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥३।७॥

हे अर्जुन! जो मन से इन्द्रियों को रोककर विषयों से असक्त रहता हुआ अपना जीवन चलाता है, वही श्रेष्ठ पुरुष है। जिस व्यक्ति ने इस प्रकार चित्त की शुद्धि और मन के संयम द्वारा अपने संकल्प-विकल्पों को उच्च स्तर तक पहुँचा दिया, वही जीवन में सफल हुआ। हमने ऊपर सूरदास का उदाहरण दिया जिसने अपनी आंखों को फोड़ पाप के सम्मुख हार स्वीकार की। इससे ठीक विपरीत गोस्वामी तुलसीदास के जीवन की एक घटना है। इन्होंने अपने काम वासना के मानसिक विचार को संयम द्वारा प्रभु भक्ति के उच्च स्तर तक पहुँचा दिया।

गोस्वामी तुलसीदास द्वारा काम वासना विजय

घटना इस प्रकार है। तुलसीदास युवाकाल में बड़े कामुक और अपनी पत्नी रत्नावली के प्रति अनन्य आसक्त थे। इनकी पत्नी जब एक बार अपने पीहर चली गई तब तुलसी इस पत्नी-वियोग को सह न सके। वह रातों रात एक बरसाती नदी को पार कर अपने ससुराल पहुँचे। लोक गाथा के अनुसार, नदी को पार करने के लिए उन्होंने जिसका सहारा लिया, उसे अपनी कामान्धता के कारण पहचानने का प्रयास भी न किया। वह, वस्तुतः एक शव था। जिस समय ससुराल पहुंचे उस समय आधी रात हो चुकी थी। पत्नी ऊपर चौबारे पर सो रही थी। तुलसी झटपट किसी नीचे की ओर लटकती रस्सी के सहारे ऊपर चढ़ गये। यहां फिर लोकगाथा के अनुसार वह रस्सी नहीं थी; एक लम्बा सांप था। पर गोस्वामी तो कामान्ध थे। उनके लिए तो एक-एक क्षण भारी हो रहा था। जब ऊपर पहुँचे और द्वार खटखटाया तो रत्नावली एक दम चौंक कर उठी। द्वार खोलते ही अपने पति को इस कुवेला में देख; भोंचक्की हो गई। जब तुलसीदास ने अपनी विरह व्यथा को बताते कामवासना प्रकट की, तब रत्नावली ने पति के इस आवेग को घृणित बताते हुए निम्न शब्द कहे—

लाज न लागत आपु को, दौरे आयहु नाथ।
धिक्-धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ ॥
अस्थि चरम मय देह मम, तामें ऐसी प्रीति।
तैसी जो श्री ईश महं, होति न तब भव भीति ॥

पत्नी के इन शब्दों ने गोस्वामी जी के ज्ञान चक्षु खोल दिये। काम ज्वर का आवेग तत्काल शांत हो गया। हृदय में ऐसी विरक्ति आयी, कि तत्क्षण वहां से वापस जा प्रभु भक्ति में तल्लीन हो गये। रामचरित मानस सदृश ऐसा अनुपम ग्रन्थ लिखा जिससे तत्कालीन पतनोन्मुख आर्यजाति में नव जीवन का संचार हो गया। यह ग्रन्थ आज भी—सैकड़ों वर्ष के बाद—न केवल भारत किन्तु विश्व साहित्य में अपना मूर्धन्य और अद्वितीय स्थान रखता है। तुलसीदास ने अपने मानसिक विकार का प्रभु भक्ति से प्रक्षालन कर उसे उच्चतम पद तक पहुँचा दिया।

पाप का मूल इन्द्रियाँ नहीं, उनका नाश करने से पाप का उन्मूलन कभी नहीं हो सकता। पाप के बीज तो मन में हैं। इसलिए मानसिक शुद्धि से ही इन्द्रियां वश में आ सकती हैं। केवल बाह्य स्वरूप का परिवर्तन कर देने से मन का परिवर्तन नहीं हो सकता। कबीर कहता है—

केसन कहा बिगारिया जो मूँडौ सौ बार।
मन को क्यों नहीं मूँडिये, जामें विषय विकार ।।

मानव के हृदय में निरन्तर पाप-पुण्य का संग्राम चलता रहता है। इसी को शास्त्रों में देव-असुर संग्राम, कई प्रकार के अलंकारों और कथाओं से, का नाम दिया गया है। शूरवीर वही है जो इस आभ्यन्तरिक युद्ध में पाप की सेना का डट कर सामना करता है और कभी पराजय नहीं मानता। कबीर के शब्दों में—

सूरा नाम धराई के, अब का डरपै वीर।
मंडि रहन मैदान में, सन्मुख रहना तीर ।।

वैदिक धर्म में इन्द्रियों की श्रेष्ठता

वैदिक धर्म में इन्द्रियों को कहीं भी गर्हित नहीं माना गया। स्वयं "इन्द्रिय" शब्द ही बड़ा अर्थपूर्ण है। इसकी धातु है "इदि परमैश्वर्ये" इस धातु से "रन्" प्रत्यय होकर "इन्द्र" शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ है "य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः"। जो अखिल ऐश्वर्य युक्त है, इससे परमात्मा का नाम "इन्द्र" है। इस "इन्द्र" शब्द से ही निपातनात् घञ् प्रत्यय होकर "इन्द्रिय" बनता है, जिसका अर्थ है कि जो प्रभु प्राप्ति के लिए सहायक है। हलायुध कोश के अनुसार "इन्द्रियम्" का लक्षण है "इन्द्रस्यात्मनो लिंगमनुमापकम्" "इन्द्रेण ईश्वरेण सृष्टम्"—अर्थात् इन्द्र के (आत्मा) के चिह्न का जो मापक साधन है वह इन्द्रिय और इन्द्र ईश्वर से जिसकी रचना हुई हो वह इन्द्रिय है। जब मानव देह द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति और ईश्वर दर्शन हो सकते हैं और वह देह तभी सम्पूर्ण कहा जा सकता है जब कि इसमें इन्द्रियाँ चेष्टाशील हों; तब स्पष्ट है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति स्वस्थ इन्द्रियों सहित मनुष्य शरीर में ही हो सकती है, अन्य किसी भी शरीर से नहीं। इन्द्रियों को "करण" भी कहा गया है जिसका अर्थ है "साधन"। ये "करण" दो प्रकार के हैं, एक "बहिःकरण" और दूसरा "अन्तः करण"। "बहिः करण" में पांच ज्ञानेन्द्रियां और पाँच कर्मेन्द्रियां हैं, और "अन्तः करण" के अन्तर्गत "मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार"—ये चारों हैं। इसे "अन्तः करण चतुष्टय" भी कहा गया है। इन्द्रिय रूप इस "बहिः करण" साधन की उपेक्षा व नाश करके "अन्तः करण" किस प्रकार सार्थक हो सकता है और किस प्रकार "साध्य" अर्थात् मानव जीवन के लक्ष्य मोक्ष पद की प्राप्ति हो सकती है?

उपनिषदों में इन्द्रियों को "ख" नाम से कहा गया है। कठ उप० ४।१ में "ख" नाम से इन्द्रियों के कार्य का निम्न शब्दों में वर्णन किया गया है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्,
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।।

स्वयंभू अर्थात् परमात्मा ने (खानि) इन्द्रियों को बाहर की ओर जाने वाला बनाया है, इसलिए मनुष्य बहिर्मुख ही रहता है, अन्तर्मुख, आत्ममुख, नहीं होता। अमृत की इच्छा करने वाला कोई अनोखा मनुष्य ही ऐसा होता है जो बाह्य विषयों से अपनी इन्द्रियों को हटाता और अमृत की इच्छा करता हुआ भीतर की ओर देखता है। इस "ख" के साथ जब "सु" उपसर्ग लग जाय तब वह "सुख" कहा जाता है, अर्थात् जो इन्द्रियों के अनुकूल हो। जब "दुः" उपसर्ग लग जाय, तब "दुःख" कहा जाता है अर्थात् जो इन्द्रियों के प्रतिकूल हो। फलतः "सुख" "दुःख" की इकाई और मूल आधार इन्द्रियाँ ही हैं। वैदिक धर्म में तब इनके नाश के लिए कैसे कहा जा सकता है ?

उपनिषदों के अनुसार, प्राचीन काल में आचार्य और शिष्य—दोनों निम्न मंत्र का पाठ करके पठन-पाठन प्रारम्भ करते थे—

आप्यायन्तु ममांगानि वाक् प्राणश्चक्षुः,
श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि,
सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्। माऽहं ब्रह्म निराकुर्याम्,
मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणं मेऽस्तु,
अनिराकरणं मेऽस्तु, तदात्मनि निरते
य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥

मेरे समस्त अंग पूर्णतः पुष्ट हों, मेरी वाणी, प्राण, चक्षु, ज्ञान इत्यादि इन्द्रियां बलिष्ठ हों। यह सब साधन ब्रह्म के समीप उपस्थित होने के हैं। मैं ब्रह्म की उपेक्षा न करूं और ब्रह्म भी मुझे अपनी कृपा से वंचित न करे, इस प्रकार मैं ब्रह्म से कभी अपने को दूर न समझूं। इस प्रकार आत्मा में सदा ब्रह्म का ध्यान हो। उपनिषदों में जो धर्म, अर्थात्, शिक्षाएं वर्णित हैं, वह सब मेरे अन्दर हों, वह सब मेरे आत्मा में विद्यमान रहें।

रोगी शरीर ईश्वरभक्ति नहीं कर सकता

वैदिक धर्म में इस प्रकार इन्द्रियों से युक्त मानव देह के स्वस्थ-पुष्ट होने की जहां प्रार्थना है, वहाँ साथ ही इस आत्मा को सदा प्रभु अर्पित करने की प्रेरणा है। स्वस्थ शरीर ही धर्म मार्ग पर चलता हुआ ब्रह्म दर्शन कर सकता है। इसी लिए आयुर्वेद के प्रारम्भ में ही चरक ऋषि ने यह घोषणा कर दी कि—

शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।

धर्म पालन का सबसे पहला साधन शरीर ही है। 'स्वस्थ आत्मा स्वस्थ शरीर में ही रह सकता है।' (Sound soul in a sound body) रोग और व्याधियों से पीड़ित और जर्जरित शरीर से भला कहीं सन्ध्या, उपासना, ध्यान, योग इत्यादि किये जा सकते हैं ? क्या रोगग्रस्त व्यक्ति किसी प्रकार भी धर्म और कर्त्तव्य का पालन कर सकता है ? विविध शारीरिक दुर्बलताओं, कष्टों और पीड़ाओं में फंसा व्यक्ति क्या कभी मोक्ष पद प्राप्ति की दिशा में अग्रसर हो सकता है ? इसीलिए वेदों में अनेक मंत्र ऐसे हैं जिनमें इन्द्रियों और शरीर के विविध अंगों के पूर्णतः पुष्ट रहने और दीर्घायु प्राप्त करने की प्रार्थनाएं की गयी हैं। इस सम्बन्ध में कुछ वेद मन्त्र यहाँ उपस्थित किये जाते हैं—

वेद में पुष्ट इन्द्रियों और स्वस्थ शरीर की प्रार्थनाएं—

(१) इन्द्रियां "ऋषि" हैं

ओ३म् । सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो
अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ यजु० ३४।५५

इस शरीर में सात ऋषि हैं—पांच ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियों के प्रतिनिधि रूप दो इन्द्रियां—हाथ और पांव । ये सातों ऋषि बिना आलस्य के इस शरीर की रक्षा करते हैं । यह सातों ऋषि (इन्द्रियां) रात को विश्राम करते हैं पर जीव और ब्रह्म ये दोनों देव सदा जागते हुए इस शरीर में विद्यमान रहते हैं ।

(२) शरीर ६ द्वारों वाला कमल और देवों की अजेय नगरी

(क) ओ३म् । पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदोविदुः ॥
अथर्व १० । ८ । ४३

सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणों से घिरा, नौ द्वारों वाला—दो आंख, दो नाक, दो कान, १ मुख, दो पायु-उपस्थ—यह कमल सदृश शरीर है जिसमें पूजनीय ब्रह्म सहित आत्मा रहता है । ब्रह्म वेत्ता उसे जानते हैं ।

(ख) ओ३म् । अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥
अथर्व १० । २ । ३१

देवों की न जीती जा सकने वाली नगरी के आठ चक्र और ६ द्वार हैं । उस नगरी में प्रकाश से घिरा हुआ सुवर्णमय आनन्द तक ले जाने वाला कोष है । शरीर के भीतर आठ चक्र हैं (१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणि पूरक (४) सूर्य-चक्र (५) अनाहत (६) विशुद्धि चक्र (७) आज्ञा चक्र (८) ब्रह्म चक्र ।

(ग) छान्दोग्य उपनिषद् ८ । १ । १ में इसे "ब्रह्मपुर" कहा गया है—

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म ।
तस्मिन् यदन्त स्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम् ॥

इस ब्रह्मपुर (ईश्वर दत्त नगरी) में जो कमल रूप छोटा स्थान है, उसके भीतर स्थित "आत्मा" को जानना-देखना चाहिए ।

(३) शरीर पत्थर के समान दृढ़ हो

ओ३म् । एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः ।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥
अथर्व २ । १३ । ४

पत्थर सदृश दृढ़ शरीर पर हे जीव ! तेरा पूर्ण अधिकार हो, तेरा यह स्थूल देह पत्थर समान दृढ़ हो, सम्पूर्ण दिव्य गुण तेरी आयु को १०० वर्ष करें।

(४) हमारे शरीर बलवान् हों

ओ३म् । बलं धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानळुत्सु नः ।
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि ।।

ऋग् ३ । ५३ । १८

हे बलधारी प्रभो ! हमारे शरीरों में बल दो, हमारे रथ वाहकों में बल हो, हमारी सन्तान के लिए और हमारे जीवन के लिए बल दे क्योंकि तू ही बलदाता है ।

(५) मेरी सब इन्द्रियाँ बलवान् हों

(क) वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ।।
(ख) ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः ।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानि भृष्टः ।।

अथर्व १९ । ६० । १-२

मेरे मुख में वाक् शक्ति, मेरी नासिकाओं में जीवन शक्ति, आँखों में दर्शन शक्ति, कानों में श्रवण शक्ति, सदा विद्यमान रहे । मेरे बाल काले रहें, मेरे दाँत निर्बल न हों, मेरी भुजाओं, जाँघों, टाँगों और पैरों में बल, शक्ति, वेग, दृढ़ता हो, मेरे सब अंग त्रुटि रहित हों, मेरा सम्पूर्ण देह निर्दोष हो ।

(६) वैदिक सन्ध्या का प्रारम्भ जहां विश्वमात्र के लिए कल्याण की प्रार्थना से होता है, वहां अगले मंत्रों में "ओ३म् वाक् वाक्" इत्यादि और "ओ३म् भू-पुनातु शिरसि" इत्यादि द्वारा शरीर की सब समस्त आपादमस्तक इन्द्रियों के बलवान् होने और प्रत्येक अंग की आभ्यन्तरिक पवित्रता की प्रार्थना की गयी है । सन्ध्या के उपस्थान मन्त्रों में "तच्चक्षु र्देवहितं पुरस्तात्" इस मंत्र द्वारा १०० वर्ष तक देखने १०० वर्ष तक जीने, १०० वर्ष तक सुनने—इस प्रकार १०० वर्ष तक समस्त शरीर के स्वस्थ और नीरोग रहने की प्रार्थना प्रभु से की गयी है ।

मोक्ष के लिए मानव शरीर ही साधन है

वेदों के सैकड़ों मंत्र इन्द्रियों की पुष्टि, शरीर की नीरोगता और पूर्ण स्वास्थ्य तथा न्यूनतम १०० वर्ष तक की आयु—वेद में मानव की आयु ४०० वर्ष तक कही गयी है—के सम्बन्ध में हैं । पर हमने यहां नमूने के तौर पर कुछ थोड़े ही मंत्र उपस्थित किये हैं । वैदिक वाङ्मय के अन्य अनेक ग्रन्थों से भी वेदोक्त शरीर, इन्द्रिय और आयु सम्बन्धी उपदेशों की पुष्टि की जा सकती है । संक्षेपतः, इन्द्रिय युक्त शरीर को एक मात्र घृणित त्याज्य, हेय और उपेक्षणीय न बता कर आत्मा के लिए देव-मन्दिर और मोक्ष साधक कहा गया है । यह ठीक है कि शरीर पाँच-भौतिक है, नाशवान् है और शरीर के स्वामी आत्मा की उपेक्षा करना सर्वथा अनुचित

हैं। पर, मानव योनि ही एक ऐसी योनि है जो भोग योनि के साथ कर्म योनि भी है। अन्य सब योनियां केवल भोग योनियाँ ही हैं। यहाँ जीव मानव योनि में आकर पूर्व जन्म के संचित कर्मों का फल भोगता है, वहां नये कर्म भी तो करने हैं। बिना पाँचभौतिक शरीर धारण किये, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अणु रूप आत्मा किस प्रकार कर्म कर सकता है ? यदि कुम्हार के पास मिट्टी ही न हो तो वह घड़ा कैसे बनाएगा ? इसी लिए सांख्य दर्शन में "अंध-पंगु" न्याय से आत्मा को पंगु और पंचभूतात्मक प्रकृति को अंधा कहा गया है। पंगु आत्मा अन्ध प्रकृति के कन्धे पर ही बैठकर इस जगत् में अमृतपद के लक्ष्य तक पहुंच सकता है। आत्मा, स्वरूप से, अविनाशी, अजर, अमर, नित्य इत्यादि है और शरीर का अन्त भस्म के साथ है। पर, यह प्रभु की अद्भुत लीला है कि दोनों का संयोग अनिवार्य है। जब उपनिषत्कार आत्मा को शरीर रूपी रथ का स्वामी कहते हैं तब बिना रथ के वह रथी कैसे बन सकता है ? वह राजा कैसा जिसकी प्रजा का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

शंकर द्वारा मानव शरीर की घोर निन्दा

शरीर और उसके अंग इन्द्रियों के प्रति इस प्रकार की घृणा, हीनता और गर्हा की भावना बौद्ध मत और उससे प्रभावित नवीन वेदान्त की भ्रान्त शिक्षा का ही परिणाम है। शंकराचार्य विवेक चूड़ामणि में निम्न श्लोकों में शरीर की कितनी निन्दा करते हैं :—

(१) शरीर पोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति ।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति ॥८६॥

(२) त्वङ् मांस रुधिर स्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलम् ।
पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं वपुः ॥८९॥

जो शरीर पोषण में लगा रहकर आत्मतत्त्व को देखना चाहता है, वह मानो काष्ठ-बुद्धि से ग्राह को पकड़ कर नदी पार करना चाहता है।

त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु [नस] मेद, मज्जा और अस्थियों का समूह तथा मल-मूत्र से भरा हुआ यह स्थूल देह अति निन्दनीय है।

बौद्ध मत और शंकराचार्य के अनुयायियों द्वारा भारत के मध्य युग में प्रसारित इस भ्रान्त शिक्षा का ही यह परिणाम हुआ कि भारत कई सदियों तक विदेशियों का दास रहा। शरीर और ऐहिक उन्नति की सर्वथा उपेक्षा कर भारत को इतना नपुंसक बना दिया गया कि हजारों मील दूर पश्चिम एशिया और यूरोप के विदेशी आक्रान्ताओं से सदियों तक पददलित होता रहा। तत्कालीन राजा और शासक अपने कर्त्तव्य से विमुख हो संन्यासी बनने के लिए उतावले होने लगे। गृहस्थ आश्रम को अति निन्दनीय समझने लगे। आज भी भारत में, विशेषत: हिन्दुओं में, ऐसे गुरुओं और अवतारों की बाढ़ आयी हुई है, जो स्वयं तो आधुनिकतम भोग-विलासों में ग्रस्त हैं और अतुल सम्पत्ति के स्वामी हैं पर जनता को शरीर, समाज, राष्ट्र और सम्मिलित पारिवारिक जीवन भी सर्वथा उपेक्षा करने और एकमात्र अपने को ही जगत् तारक तथा "भवभीति उद्धारक" की इश्तिहार बाजी करते थकते नहीं हैं।

मध्य युग तिमिर नाशक—ऋषि दयानन्द

इस अन्धकार पूर्ण, विदेशियों से पादाक्रान्त, संकुचित विचारों के कटघरे में बद्ध, आलस्य और निरुद्यम के शिकार रूढ़िग्रस्त, व्यक्तिवाद के पूजक, मध्य युग भारत के कई सदियों के पश्चात् १९वीं सदी में उत्पन्न प्रथम महापुरुष और युगद्रष्टा महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती थे जिन्होंने सबसे पहले लौकिक और पारलौकिक दृश्य-अदृश्य, शरीर और आत्मा, गृहस्थ और संन्यास, व्यक्ति और समाज, राजा और प्रजा, जगत् व्यवहार और ईश्वर पूजा, भक्ति और शक्ति, राष्ट्र और राज्य शासन, वर्ण और आश्रम इत्यादि सबका युक्ति युक्त सामंजस्य, सन्तुलन और एकीकरण किया। वह पहले महापुरुष थे जिन्होंने विदेशी आक्रान्ताओं के विरुद्ध शंख नाद करते हुए भारत को एक सूत्र में आबद्ध और संगठित करने का आह्वान किया तथा "पूर्ण स्वतंत्रता" का जयघोष किया। महर्षि दयानन्द ने अपने समस्त ग्रन्थों में राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, राष्ट्र-व्यक्ति, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास, चारों वर्ण, आत्मा-शरीर ईश्वर भक्ति, मोक्षप्राप्ति, जगद् व्यवहार इत्यादि प्रत्येक की युक्ति संगत मीमांसा की है। शंकर ने जिस गृहस्थ आश्रम, नारी, शूद्र, शरीर इत्यादि की कटुनिन्दा की और इन्हें त्याज्य बताया, महर्षि दयानन्द ने इनका वेद की आज्ञानुसार, उचित स्तर पर पुनः संस्थापन किया है। महर्षि के निम्न शब्द कितने सारपूर्ण और हृदयग्राही हैं —

> **"सदा स्त्री पुरुष ...... प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन कर धर्म और अर्थ का विचार किया करें और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में कभी पीड़ा भी हो, तथापि धर्म युक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें। किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिए युक्त आहार-विहार, औषध सेवन, सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिए ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना उपासना भी किया करें कि जिससे परमेश्वर की कृपा दृष्टि और सहाय से महा कठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें"** **(संस्कार विधि २२वां संस्करण पृष्ठ २०४)**

आर्याभिविनय में एक मंत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि कितने सार्थक शब्दों में जगत् और मोक्ष—दोनों के अभ्युदय और निःश्रेयस की भावपूर्ण प्रार्थना करते हैं—

> हे प्रजापते ! मुझको अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्व, गवादि, उत्तम पशु, सर्वोत्कृष्ट विद्या और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्य जो स्थिर परमसुखकारक उसको शीघ्र प्रदान करें। हे परमवैद्य ! सर्वथा मुझको सब रोगों से छुड़ाके परम नैरोग्य दें...मैं अत्यन्त दीन होके यही मांगता हूँ कि मैं आप और आपकी आज्ञा से भिन्न पदार्थ से कभी प्रीति न करूँ।...हे प्राणपते ! प्राणप्रिय, प्राण-पति, प्राणाधार, प्राणजीवन, सुराज्यप्रद ! मेरे प्राणवाले आदि आप ही हो। मेरा सहायक आपके बिना कोई नहीं है। हे महाराजाधिराज ! जैसा सत्य न्याययुक्त, अखंडित, आपका राज्य है, वैसा न्याय राज्य हम लोगों का भी आपकी ओर से स्थिर हो।...हे धर्माधीश ! हमको धर्म में स्थिर रखो। हे करुणामय पिता ! जैसे माता और पिता अपने सन्तानों का पालन करते है, वैसे ही आप हमारा पालन करो।"
>
> (आर्याभिविनय आर्यसाहित्य भवन, नयी सड़क, दिल्ली, पृ० ६९-७१)

इन प्रार्थना शब्दों से स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द की दृष्टि कितनी व्यापक

गम्भीर, दूरगामी, उच्च और सर्वग्राही थी। ऋषिवर मानव जीवन के ऐहिक और पारलौकिक रूप-दोनों को अविभाज्य और परस्पर सर्व रूपेण आबद्ध समझते थे।

अश्वत्थ से सोमरस प्रवाहित

"अश्वत्थ" शब्द के दूसरे अर्थ के अन्तर्गत—जिसकी हमने इस अध्याय में आपाततः व्याख्या की है—इन्द्रिय, शरीर और इनके स्वामी आत्मा के कार्य-विकास के उद्देश्य सन्निहित हैं। छान्दोग्य उपनिषद् अष्टम प्रपाठक, पंचम खंड के तीसरे श्लोक में कहा गया है कि "हृदय में निरन्तर एक यज्ञ हो रहा है। इसी को "अपराजित" ब्रह्मपुरी कहा गया है। वहां एक सरोवर है जिसका नाम है "ऐरंमदीय"—अर्थात् आनन्द का स्रोत। इस स्रोत के पास "अश्वत्थ" वृक्ष है जिससे सदा सोमरस टपकता रहता है। ऋषि के शब्दों में—

"तदैरंमदीयं सरसादश्वत्थः सोमसवनः"

उपनिषद् के इस अलंकार का अभिप्राय यही है कि जिस समय यह सशरीर आत्मा ब्रह्मलोक—आनन्द समाधि—में प्रवेश करता है, तब इस विश्व की अ+श्व+स्थ—क्षण-क्षण में भंगुरता का अनुभव करता हुआ आत्मा अमरता और आनन्दधारा रूपी सोमरस के सतत प्रवाह का अनुभव करता है। अमरता के इस सोमरस के झरने के समीप ही संसार की निस्सारता का ज्ञान कराने वाले पौधे भी लहलहा रहे है। ऋषि कहते है कि उपासक बाहर "पिंड" से मुँह फेरकर भीतर "ब्रह्म" की ओर ले जाए और सोमरस का निर्बाध पान करता रहे।

६

"न्यग्रोध", "पिप्पल" और "पलाश"

(क) न्यग्रोध

दूसरे अध्याय में हमने छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित "न्यग्रोध" वृक्ष का संकेत किया है। इस उपनिषद् के छठें प्रपाठक के पहले खंड से १६वें खंड तक एक आख्यान आता है। अरुण ऋषि का पुत्र श्वेतकेतु बालक था। उसे पिता ने कहा—सौम्य ! किसी आश्रम में ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर विद्या प्राप्त करो। हमारे कुल में ऐसा कोई नहीं हुआ जो वेदों का अध्ययन किये विना "ब्रह्मबन्धु" ही रह गया हो, अर्थात् उसकी योग्यता केवल इतनी ही हो कि वह "ब्राह्मणों का बन्धु" सम्बन्धी हो, स्वयं कुछ न जानता हो।

पिता की आज्ञा से श्वेतकेतु आचार्य कुल में गया और १२ वर्ष तक वेद पढ़ता रहा। जब वह वापस आया, तब कुछ अभिमानी हो गया। पिता को उसकी यह अकड़ पसन्द न आयी। उसने श्वेतकेतु से पूछा—क्या तुम "आदेश" का अर्थ जानते हो ? ब्रह्मचारी ने कहा—आचार्य ने "आदेश" के सम्बन्ध में तो कोई शिक्षा

नहीं दी। शायद वह न जानते हों, अथवा भूल गये हों। अब आप ही कृपा कर बता दीजिए।" पिता ने कहा—"मिट्टी, लोहा, सोना इत्यादि से निर्मित पदार्थ, वस्तुतः, एक ही मूल प्रकृति से निर्मित हैं पर एक अदृश्य शक्ति से अपने स्वरूप में स्थित हैं, बस, यही आदेश है। इस उपदेश का व्याख्यान करते हुए पिता संसार की विभिन्न वस्तुओं का उदाहरण देते हैं। इसी प्रसंग में वह श्वेतकेतु को समझाने के लिए इस विश्व की उपमा "न्यग्रोध" वृक्ष से देते हुए छठे प्रपाठक के १२वें खण्ड में कहते हैं—

न्यग्रोध फलमत आहरेतीदं भगव इति। भिन्धीति। भिन्नं भगव इति। किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति। भिन्ना भगव इति। किमत्र पश्यसीति। न किंचन भगव इति।

अर्थ—पिता ने कहा—वट वृक्ष का फल लाओ। श्वेतकेतु ने कहा, पिताजी, ले आया। इसे तोड़ो। तोड़ दिया। इस में क्या देखते हो? भगवन्! इसमें बहुत छोटे-छोटे दाने हैं। प्रिय! इन दानों में से एक को तोड़ो। पिताजी, तोड़ दिया। इसमें क्या देखते हो? पिताजी, इसमें तो कुछ भी नहीं देखता। तब पिता ने उपदेश दिया—

तं होवाच। यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति। श्रद्धत्स्व सोम्येति॥

पिता ने कहा—हे सौम्य! जिसे तू "कुछ नहीं" कह रहा है, जिस अरुण रूप को तू देख नहीं पा रहा, हे सौम्य! इस अरुण रूप में से ही यह महान् "न्यग्रोध" वटवृक्ष खड़ा हो जाता है। इस बात पर श्रद्धा कर। हलायुध कोश के अनुसार "न्यग्रोध" का अर्थ "वटवृक्ष" है।

वट वृक्ष का फल

इस गाथा का अभिप्राय यही है कि यह विश्व एक "न्यग्रोध"—वट वृक्ष—के फल के तुल्य है। गूलर को तोड़कर भीतर से देखें तो उसमें छोटे-छोटे बीजों की भरमार होती है और बीजों को तोड़ें तो उनमें कुछ भी नहीं होता। इसी प्रकार इस विश्व के अनन्त जड़-चेतन पदार्थ गूलर के भीतर उपस्थित असंख्य बीजों के समान हैं पर इन सब अनन्त पदार्थों की अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इस गूलर के दाने के समान ये सब, स्वरूप में, शक्तिहीन हैं। जिस प्रकार इन बीजरूप दानों से ही महान् वट वृक्ष का प्रादुर्भाव होता है, इसी प्रकार परमाणु रूप जगत् से ही यह वृक्ष रूप विशाल विश्व स्थूल आकृति में परिणत होता है। पर, स्वयं नहीं, अदृश्य ब्रह्म शक्ति की प्रेरणा से ही। इस अदृश्य शक्ति पर हमें श्रद्धा करनी चाहिए।

यह "न्यग्रोध" शब्द एक गहन अर्थ का बोधक है। इसकी व्युत्पत्ति है "ये न्यञ्चोऽरोहं स्तस्मान्यङ् रोहति न्यग्रोहो न्यग्रोहं सत्तं न्यग्रोध इत्याचक्षते" (ऐतरेय ७।३०), "न्यञ्चो न्यग्रोधा रोहन्ति (शतपथ, १३।२।७।३) गोभिल गृह्यसूत्र के ४।७ २४ के अनुसार (न्यक्) नीचे (रोध) बढ़ने वाला न्यग्रोध है। वट वृक्ष नीचे की ओर अपनी लम्बी-लम्बी दाढ़ियों से बढ़ता है और एक वक्ष के कई वृक्ष बन जाते हैं। यह विश्व भी "ऊपर" अर्थात् उच्च ब्रह्मशक्ति की प्रेरणा से "नीचे" अर्थात् स्थूल रूप

में—अनन्त प्रकार से—निरन्तर बढ़ता रहता है। इसलिए इस विश्व वृक्ष का नाम "न्यग्रोध" इस उपनिषद् में कहा गया।

"न्यग्रोध" का पर्याय वाचक "औदुम्बर" भी है। उदुम्बर से तद्धित प्रत्यय होकर "औदुम्बर" शब्द बनता है। हिन्दी में इसका अर्थ भी वट वृक्ष है। महाभारत अनुशासन पर्व १४६।१०६ के अनुसार "न्यग्रोधौदुम्बरोऽश्वत्थः"—न्यग्रोध, औदुम्बर और अश्वत्थ—तीनों समानार्थक हैं। विष्णु सहस्रनाम में भी संसार की इन तीनों वृक्षों से ही उपमा दी गयी है।

स्वल्प बीज से महान् वृक्ष

"न्यग्रोध" के एक छोटे बीज की कितनी विशिष्टता और शक्तिमत्ता है, संस्कृत के एक कवि ने इसे निम्नश्लोक में भावपूर्ण शब्दों से व्यक्त किया है—

न्यग्रोधे फलशालिनि स्फुटतरं किंचित् फलं पच्यते,
बीजान्यङ्कुर गोचराणि कतिचित् सिध्यन्ति तस्मिन्नपि।
एकस्तेष्वपि कश्चिदङ्कुरवरः प्राप्नोति तामुन्नतिम्,
यामासाद्य निदाघ पीडित तनुर्ग्लानिच्छिदे धावति ॥

अर्थात् फलयुक्त न्यग्रोध में स्पष्ट रूप में कुछ फल पकते हैं, शेष दिखाई देने वाले बीजांकुर उसी में समाप्त हो जाते हैं। इन बीजों में यदि एक अंकुर भी वृक्ष रूप धारण कर ले तो उससे ग्रीष्म से पीड़ित व्यक्ति का दुःख दूर हो जाता है।

(ख) पिप्पल

ऋग्वेद १।१६४।३० के निम्न मंत्र में इस विश्व वृक्ष की "पिप्पल" से उपमा दी गयी है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य नश्नन्नन्योऽभि चाकशीति ॥

उत्तम पंखवाले, साथ-साथ रहने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष पर साथ-साथ रहते हैं। इन दोनों में से एक पक्षी इस "पिप्पल" का मीठा फल खाता है और दूसरा कुछ भी न खाता हुआ खाने वाले को देखता रहता है।

यही मंत्र मुण्डक उपनिषद् के ३।१ में इसी रूप में आया है। इस मंत्र के पहले अंश में "वृक्ष" और दूसरे अंश में "पिप्पल" शब्द आया है। "वृक्ष" का संकेत दोनों पक्षियों के बैठने के लिए और इनमें से एक के द्वारा स्वादु फल खाने के लिए "पिप्पल" शब्द का संकेत है। वृक्ष से अभिप्राय प्रकृति का है। इस सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे। यहां "पिप्पल" शब्द का विवेचन किया जा रहा है।

"पिप्पल" के फल खाने में ही मोक्ष

हलायुध कोश में "पिप्पल" शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

"पिप्पलं जलं सिच्यमानत्वेना स्त्यस्य मूलावच्छेद इति।"

इसका नाम "पिप्पल" इसलिए है है क्योंकि इसके मूल में "पिप्पल" अर्थात्

जल सींचा जाता है ।जल तो प्रत्येक वृक्ष के मूल में दिया जाता है, तब "पिप्पल" के लिए ही यह बात क्यों कही गयी ? इसलिए कि "पिप्पल" एक ऐसा वृक्ष है जो पत्तों और शाखाओं के कारण चारों ओर अधिक फैलता और ऊँचाई में भी बढ़ता है । इसकी चतुर्दिक् वृद्धि और विस्तार के लिए जल की प्रचुर आवश्यकता होती है । इसलिए कोशकार ने "पिप्पल" का अर्थ "जल" ही दर्शाया है । इस वृक्ष को सामान्य भाषा में "पीपल" कहते हैं । इसका फल यद्यपि आकृति में छोटा होता है पर स्वादु होता है । अतः जीवात्मा रूपी पक्षी इस "पिप्पल" रूपी प्रकृति के स्वादिष्ट फल खाने में ही मस्त रहता है और समीप बैठे दूसरे पक्षी अर्थात् ब्रह्म को भूल जाता है । पर जीवात्मा की यह स्थिति चिरकाल तक नहीं रह सकती । तब एक दिव्य वाणी उसे झकझोरती है । वेद के शब्दों में—

तम एतत् पुरुष मा प्र पत्थाः ।। अथर्व ८ । १ । १०

हे पुरुष ! यह अंधकार है, इसमें मत गिर । इस संसार रूपी वृक्ष पर बैठा जीवात्मा प्राकृतिक भोगों में आसक्त हुआ, अंत में जब अपने को दुःख सागर में डूबा जान अनाथवत् समझने लगता है, तब मंगलमय प्रभु कहते हैं "प्रिय ! निराश क्यों होते हो ? "मैं तो तुम्हारे भीतर और बाहर अंगसंग हूँ ।" मोहान्ध जीवात्मा तब अपनी महिमा का अनुभव करता हुआ, हर्ष-शोक रहित हो जाता है । वेद के शब्दों में भगवती जगज्जननी प्रेरणा देती है—

उच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।। अथर्व २।६।२
उत्क्रामातः पुरुष माव पत्थाः ।। अथर्व ८।१।४

महान् ऐश्वर्य के लिए उठ ।

हे पुरुष ! यहाँ से ऊपर उठ, नीचे मत गिर ।

(ग) पलाश

"अश्वत्थ" "न्यग्रोध" और "पिप्पल" इन तीन वृक्ष-नामों के अतिरिक्त, ऋग्वेद १०।१३५।१ के निम्न मन्त्र में इस विश्व वृक्ष का चौथा नाम "पलाश" कहा गया है—

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः ।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ।।

भावार्थ—उत्तम पलाश वृक्ष पर बैठ कर सब प्रजाओं का पालनकर्त्ता पिता यम अन्य देवों के साथ रस-पान करता है और अपने पीछे इन प्राचीन देवों को चलाता है ।

पलाश का रस-पान

इस मन्त्र में "पलाश" शब्द के साथ "सु" विशेषण लगाकर "सुपलाश" द्वारा उत्तम —"सुन्दर पलाश" का भाव व्यक्त किया गया है । इस "सुपलाश" से क्या अभि-प्रेत है ? इस मन्त्र में ही इस प्रश्न का उत्तर दे दिया गया है । "सुपलाश" के साथ जो क्रिया "पिबते" लगायी गयी है और "यम" के साथ लगे 'देवैः" विशेषण, इससे सारी गुत्थी सुलझ जाती है । मन्त्र की पहली पंक्ति है—

"यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः ।"

अर्थात्—"जिस उत्तम पलाश के वृक्ष पर यम देवों के साथ" क्या करता है, उत्तर है "संपिबते"—सम्यक् प्रकार से पीता है। स्पष्ट अभिप्राय है—"यह जगत् रूपी वृक्ष उत्तम पलाश का ऐसा है जिस पर यम देवों के साथ उत्तम रस-पान करता है।" इस वाक्य को उलट देने से ऐसे भी कह सकते हैं कि "देवों के साथ जहाँ यम रस-पान करता है, वही उत्तम पलाश वृक्ष है।" यम का अर्थ है—नियामक, नियन्ता। देव का अर्थ निरुक्त में यास्क मुनि करते हैं—"**देवः दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानीयो भवतीति वा**। जो दान करे, प्रकाशयुक्त हो, दूसरों को प्रकाश देनेवाला हो अथवा द्युलोक में स्थित हो—वह देव है। चेतन जगत् में माता-पिता, आचार्य और उत्तम पुरुष जहाँ देव हैं, वहां अचेतन जगत् में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण इत्यादि प्रकाशमय पुंज देव हैं, क्योंकि ईश्वर प्रेरित ज्योति से प्रकाश युक्त हो समूचे विश्व को प्रकाशित करते रहते हैं।" इस सारी व्याख्या के आधार पर सरल भाषा में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि—

"जगत् का नियामक ईश्वर (यम) सूर्य, चन्द्र, इत्यादि द्युलोक स्थित ज्योतिर्मय पिण्डों द्वारा और विद्वान्, आचार्य, श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा इस विश्व वृक्षरूप सुन्दर पलाश को रसमय—"आनन्दमय" बनाता है।

ब्रह्म ही "रस-रूप"—आनन्दस्रोत

तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत "ब्रह्मानन्द वल्ली" के सप्तम अनुवाक में इस "रस" और "आनन्द" की भावपूर्ण व्याख्या की गयी है। ऋषि कहते हैं—

> **"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति। कोह्येवान्यत्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते. अथ सोऽभयं गतो भवति।"**

वह (ब्रह्म) रस रूप है। तभी रस को प्राप्त कर मानव आनन्दमग्न हो जाता है। जहाँ कहीं रस है, वह उसी का है। यदि इस आकाश में रस न भरा हो तो कौन जीना चाहेगा, कौन श्वास तक लेना चाहेगा? जब यह जीव उस अदृश्य, निराकार, अनिर्वचनीय, निराधार ब्रह्म में बिना किसी भय के प्रतिष्ठित हो जाता है, उसकी गोद में अपना स्थान बना लेता है, तब यह अभय हो जाता है।"

इसी तैत्तरीय उपनिषद् के अन्तर्गत "भृगुवल्ली" प्रकरण है। इसमें ऋषि वरुण ने अपने पुत्र "भृगु" को ब्रह्म का उपदेश दिया है। इस "ब्रह्म" शब्द के अन्तर्गत ऋषि ने अन्न, प्राण, मन, विज्ञान—इन चारों का वर्णन करते हुए पुत्र को बताया कि ये सब पदार्थ "आनन्दमय ब्रह्म" की ओर ले जाने वाली सीढ़ियाँ हैं। हे भृगु! तुम्हें तप द्वारा उस परम ब्रह्म की ओर सदा अग्रसर होना चाहिए। "भृगु-वल्ली" के षष्ठ अनुवाक में वरुण ऋषि इस "आनन्दमय ब्रह्म" के "आनन्द" स्वरूप का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

> **"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद् ध्येव खल्विमानि-भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या, परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता।"**

आनन्द स्वरूप ब्रह्म को ही जानो। आनन्द से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद आनन्द के सहारे ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं। यही भृगु-वरुण की विद्या है जो हृदयाकाश में प्रतिष्ठित है।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थल पर कहा गया है कि—

"आनन्दं वै ब्रह्म। आनन्दस्यैव मात्रया उपजीवन्ति प्राणिनः।"

ब्रह्म ही आनन्द रूप है। इस विशाल सृष्टि में उसी की प्रेरणा से आनन्द की अनगिनत धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। इन्हीं धाराओं से यथाशक्ति किंचिन्मात्रा में आनन्द प्राप्त कर समस्त प्राणी जीवित रह सकते हैं।

विश्व में अजस्र आनन्द धाराएं

उपनिषदों की "आनन्द ब्रह्म" की यह कल्पना वेदों पर ही आधारित है। वेद में इस "आनन्द" के लिए पर्यायवाचक शब्द "अमृत", "मधु" "अमृतपद", "तृतीय धाम", "ज्योति", "परम ज्योति" इत्यादि अनेक शब्द आये हैं। हम यहाँ ऋग् वेद का केवल एक ही मन्त्र, उदाहरण के रूप में, प्रस्तुत करते हैं—

ओ३म्। येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदिति रद्रि बर्हाः।
उक्थ शुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्न सस्तां आदित्याँ अनुमदा स्वस्तये॥

मं० १०, सूक्त ६३, मंत्र ३

प्रभु उपदेश देते— हे संसार के स्त्री पुरुषो! तुम्हारे लिए यह पृथिवी माता अन्न-ओषधि-फल-पुष्प आदि के रूप में मधुर दूध और अखण्ड विद्युत् और मेघों से आच्छन्न आकाश और सूर्यरश्मियां मधुर अमृत सदृश दुग्ध धाराओं की अजस्र वर्षा कर रहे हैं, उनसे बलशाली, धर्मनिष्ठ, शुभकर्मशील, विद्याभ्यासी, सत्यधर्मोपदेशक विद्वज्जनों की सहायता से अपने कल्याण के लिए लाभ उठाओ और इनके उपदेश के अनुसार चलो जिससे तुम्हारा जीवन आनन्दपूर्ण हो।

"आनन्द" का अधिकार प्रत्येक मानव के लिए

इस प्रकरण के आरम्भ में हमने ऋग्० १०।१३५।१ के मन्त्र के आधार पर इस विश्व की 'पलाश' शब्द से उपमा देते हुए देवों द्वारा जिस 'रस-पान' का निर्देश किया है—उसकी सुचारु रूप से व्याख्या की। हमने उपनिषदों और वेद के सन्दर्भ से यह स्पष्ट किया कि परमात्मा ने यह विश्व जीवात्मा की आनन्द-उपलब्धि के लिए ही बनाया है। ईश्वर की यह अद्भुत लीला है कि यदि विश्व में लेशमात्र भी आनन्द न हो तो कोई भी प्राणी—विशेषतः मानव—एक क्षण भी जीवित न रहना चाहेगा। अधम, पतित और आकण्ठ पाप निमग्न व्यक्ति के जीवन में भी, भगवत्कृपा से, ऐसे क्षण अवश्य आते हैं, जब उसके आत्मा में आलोक-रेखा चमकती है और वह आनन्द-रस का अनुभव करता है। पर, दुर्भाग्य यही है कि सामान्य व्यक्ति बहिर्मुख होने से इस ज्योति और आनन्द की झलक को पकड़ नहीं पाता, तत्काल भूल जाता है, जबकि अन्तर्मुखी विशिष्ट व्यक्ति इस प्रकाश किरण को दृढ़ता से पकड़ और पल्ले बाँध उसी दिशा में अपनी जीवन-नौका प्रवाहित करता है। सामान्य पुरुष इन्द्रियभोग में फंसा जीवन समाप्त कर देता है।

आनन्द का केन्द्र बिन्दु-जिजीविषा

यही कारण है कि मानव के अन्दर, स्वभावतः जिजीविषा—जीने की उत्कट कामना है। केवल मानव ही नहीं, प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है और मृत्यु से अंतिम क्षण तक संघर्ष करता है। मनुष्येतर प्राणी के पास संघर्ष के साधन अति परिमित हैं, इसलिए वह प्राकृतिक कारणों अथवा मनुष्य के हाथ में अपनी इह लीला शीघ्र ही समाप्त करने को बाध्य हो जाता है। पर मनुष्य—इसने तो सृष्टि के प्रारम्भ में जिस क्षण से भूतल पर पहला श्वास लिया, तब से युग-युगान्तरों तक—इसका सारा इतिहास जिस एक केन्द्र बिन्दु के चारों ओर अहर्निश चक्रवत् घूम रहा है और अन्त काल तक अविश्रान्त रूप से घूमता रहेगा—वह है मृत्यु, रोग, दुःख, अभाव इत्यादि से प्रबल युद्ध और संघर्ष और, साथ ही, दीर्घ जीवन, अमरत्व, आनन्द, सुख, ऐश्वर्य इत्यादि की उत्कट आकांक्षा। सभ्य-असभ्य, उन्नत-अनुन्नत, जीवित-मृत, समस्त राष्ट्रों और जातियों का इतिहास इस आकांक्षा से, अविच्छिन्न रूप से, गुंथा हुआ है। इसीलिए, आत्महत्या को सब देश, राष्ट्र, जाति, धर्म, सम्प्रदाय इत्यादि में गर्हित ठहराया गया है और कानून से भी अपराध माना जाता है।

इस अध्याय तक हमने विश्व वृक्ष और उसके विविध नामों 'अश्वत्थ' 'न्यग्रोध' 'पिप्पल' और 'पलाश'—जिनका वर्णन वेदों और उपनिषदों में किया गया है—की सांगोपांग व्याख्या की। इन नामों के अन्तर्निहित कितने गहन और स्फूर्ति प्रद तत्त्व हैं—यह भी हमने विशद रूप से स्पष्ट किया। मानव जीवन के चतुर्दिक् विकास के लिए ये शिक्षाएँ, निश्चय ही, अक्षुण्ण ज्योति-स्तम्भ हैं।

——

७

"वृक्ष" और "वन"

प्रथम अध्याय में हमने "वृक्ष" शब्द का कुछ विवेचन किया। पर प्रश्न यह है कि इस विश्व को वेद और उपनिषदों में "वृक्ष" शब्द से ही क्यों उपमित किया गया। यद्यपि कई स्थलों पर इन वृक्षों के नाम भी दिये गये हैं—जिनका हम पिछले अध्यायों में विस्तृत वर्णन कर चुके हैं। यजुर्वेद के अध्याय १७ का २०वां मंत्र हम यहां पुनः उद्धत करना चाहते हैं क्योंकि इसमें केवल "वृक्ष" शब्द से ही इस सृष्टि का स्वरूप बताया गया है और वह इस प्रकरण से सम्बद्ध है—

"किम् स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठत् भुवनानि धारयन्॥

वह वन कौन-सा है, वह वृक्ष कौन-सा है, जिससे प्रकाश और अप्रकाश युक्त लोक छीलकर-काटकर बनाये गये हैं। हे बुद्धिमानो ! मनसे इस प्रश्न को पूछो। वेद

मंत्र में ही उत्तर दिया गया है "वह जो (परमात्मा) लोकों को नियमित रूप में धारण करता हुआ इसे अपने अधिकार में रखता है।"

"वृक्ष" कारण रूप प्रकृति का प्रतीक

यहां "वृक्ष" शब्द से क्या अभिप्राय है। उत्तर है—कारण रूप प्रकृति का। सांख्य दर्शन में सत्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति कहा गया है। परमाणु रूप मूल पदार्थ ही प्रकृति है जिससे जगत् का प्रारम्भ होता है और वह ईश्वर की शक्ति से होता है जिसे शास्त्रों में 'ईक्षण' कहा गया है। यह "ईक्षण" स्वाभाविक ज्ञान और बल क्रिया के रूप में है। परमात्मा की यह क्रिया केवल निमित्त रूप ही है जो अजस्र और निर्बाध रूप से चल रही है। ईश्वर ने निमित्त रूप में इस सृष्टि को सतत क्रियावान् बनाया है, इसलिए इसे "जगत्" अर्थात् सदा गतिशील कहा गया है। पर इस सृष्टि का उद्देश्य क्या है? इस विचित्र, विभिन्न, विविध रूप सृष्टि का उद्देश्य जीवों को कर्म फल देना और मोक्ष तक पहुँचने के साधन उपस्थित करना ही है।

ईश्वर का "ईक्षण" ही निमित्त कारण

ईश्वर जब इस सृष्टि का निमित्त कारण है—अर्थात् "ईक्षण" रूप में प्रेरक है, तब प्रश्न होता है कि वह किसे प्रेरणा देता है, उसके "ईक्षण" का लक्ष्य क्या है। वह प्रकृति ही है जो उपादान कारण के रूप में ईश्वर के "ईक्षण" को प्रतिफलित करती है। जैसे, घट के निर्माण में कुम्हार निमित्त कारण और मिट्टी उपादान कारण है, उसी प्रकार सृष्टि का निमित्त कारण ईश्वर और उपादान कारण परमाणु रूप प्रकृति है।

इस उपर्युक्त यजुर्वेद के मंत्र में और ऋग् वेद १।१६४। २० तथा मुण्डक उप निषद में आये मंत्र "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं परिषस्वजाते "वृक्ष शब्द से प्रकृति ही अभिप्रेत है। प्रकृति को वृक्ष क्यों कहा गया।" यदि हम वृक्ष के स्वरूप का विचार करें तो उसमें, मुख्यतः, चार पदार्थ समन्वित दिखाई देते हैं (१) काष्ठ-लकड़ी (२) छाया (३) फल और (४) शाखा व पत्र। इन चारों वस्तुओं की उपयोगिता है।

वृक्ष में चार पदार्थों का समन्वय

एक संस्कृति-कवि के शब्दों में—

पत्र पुष्प फलच्छाया मूल वल्कल दारुभिः।
गन्ध निर्यास भस्मास्थितोक्मैः कामान् वितन्वते ॥

पत्र, पुष्प, फल, छाया, जड़, छाल, काष्ठ, गंध इत्यादि से यह वृक्ष अपने स्वरूप का विस्तार करता है। एक अन्य संस्कृत कवि ने विक्रम चरित्र में वृक्ष को श्रेष्ठ पुरुष के सदृश इन शब्दों मे कहा है—

छायामन्यस्य कुर्वन्ति तिष्ठन्ति स्वयमातपे।
फलान्यपि परार्थाय वृक्षाः सत्पुरुषा इव ॥

वृक्ष स्वयं धूप में खड़े होकर दूसरों को छाया देते हैं और सत्पुरुषों की तरह दूसरों को ही फल देते हैं।

प्रकृति भी विविध रूप में वृक्षवत् ही कार्य करती है। जगत् के अनगिनत रूपों के पदार्थ इस प्रकृति के संयोग-वियोग से ही निर्मित हैं और इस प्रकृति द्वारा ही, ईश्वर के नियन्त्रण और प्रेरणा से, असंख्य जीव सुख-दुःख भोग रूपी फलों का आस्वादन करते हैं। विषय, वासना भोग आदि विविध फल इसी प्रकृति रूपी वृक्ष के ही हैं। वृक्ष बीज रूप में अपनी सत्ता स्थिर रखता है। यह प्रकृति निर्मित संसार भी अपने अनगिनत कार्यों से अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त कर रही है। वृक्ष ग्रीष्म पीड़ित पथिकों को अनायास ही छाया देता है। कवि के शब्दों में—

तीव्रो निदाघ समयो बहुपथिकजनश्च मारवः पन्थाः।
मार्गस्थित तरुरेकः कियतां सन्तापमपहरति ॥

भयंकर ग्रीष्म का समय है, अनेक यात्री मरुस्थल में चल रहे हैं, मार्ग में एक ही वृक्ष उन सब के ताप को हर लेता है।

महाभारत का काम वृक्ष

महाभारत में इस "वृक्ष" का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

(१) हृदि काममयश्चित्रो मोह संचय सम्भवः।
अज्ञान रूढ मूलस्तु विधित्सा परिषेचनः ॥

(२) रोषलोभ महास्कन्धः पुरा दुष्कृत सारवान्।
आयास विटपस्तीव्र शोक पुष्पो भयाङ्कुरः ॥

(३) नाना संकल्प पत्राढ्यः प्रमादात् परिवर्धितः।
महतीभिः पिपासाभिः समन्तात् परिवेष्टितः ॥

(४) संरोहत्यकृतप्रज्ञे पादपः कामसम्भवः।
नैव रोहति तत्त्वज्ञे रूढो वा छिद्यते पुनः ॥

(५) कृच्छ्रोपायेष्वनित्येषु निस्सारेषु फलेषु च।
दुःखादिषु दुरन्तेषु कामयोगेषु का रतिः ॥

(अनुशासन पर्व १४५ अध्याय, दाक्षिणात्य प्रति)

एक काममय वृक्ष है, जो मोह संचय रूपी बीज से उत्पन्न हुआ है। वह काममय विचित्र वृक्ष हृदय देश में ही स्थित है। अज्ञान ही उसकी मजबूत जड़ है। सकाम कर्म करने की इच्छा ही उसका सींचना है। रोष और लोभ ही उसके विशाल (जुड़े हुए) तने हैं। पूर्वकृत पाप ही उसका सारभाग हैं। आयास-प्रयास ही उसकी शाखाएं हैं। तीव्र शोक पुष्प हैं, भय अंकुर है। अनेक संकल्प उसके पत्ते हैं। यह प्रमाद से बढ़ता है। तृष्णा ही लता बनकर इस काम वृक्ष के चारों ओर लिपटी हुई हैं। अज्ञानी मनुष्यों में ही यह काममय वृक्ष उत्पन्न होता और बढ़ता है। तत्त्वज्ञ पुरुष में यह अंकुरित नहीं होता, यदि होता भी है तो काट दिया जाता है। यह काम वृक्ष कठिन उपायों से नष्ट किया

जा सकता है, क्योंकि अनित्य है। इसके फल सारहीन हैं। इसका आदि और अन्त भी दुःखमय है। इससे सम्बन्ध जोड़ने में क्या अनुराग हो सकता है ?

मोक्ष का साधन—यह जगत् ही

महाभारत के उपर्युक्त वर्णन से यद्यपि यह वृक्ष कामनमय है पर साथ ही यही वृक्ष और यही प्रकृति मोक्षाभिलाषी पुरुषों और श्रेष्ठ कर्म करने वालों को उदारता से प्रेरणा देती रहती है। मुमुक्षु और धर्मानुकूल जीवन-पथ यात्री के लिए एक-मात्र स्थान यह जगत् ही है, अन्य कोई स्थान नहीं है। कोई भी व्यक्ति इस संसार से भाग कर किसी ऐसे स्थान का आश्रय प्राप्त नहीं कर सकता जो इस जगत् से पृथक् किसी अन्य स्थान पर हो। विज्ञान की इतनी आश्चर्यजनक उन्नति के होते हुए भी इस विश्व से अतिरिक्त किसी भू खण्ड का निर्माण असम्भव ही है। इसलिए इस भूमि पर रह कर ही मानव एकमात्र अपने कर्मों से ही पुण्यात्मा व पापी बन सकता है। यह प्रकृति यद्यपि जड़ और अचेतन है पर इसकी प्रत्येक वस्तु—चर-अचर—सोद्देश्य और उन्नति पथ की ओर प्रेरक है। इसीलिए वेद में इस विश्व को आकर्षक और सुन्दर काव्य कहा गया है।

ओ३म्। पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

अथर्व० १०। ८। ३२

हे मनुष्य ! सुन्दर दिव्यस्वरूप प्रभु के इस जगत् रूप काव्य को देखो जो कभी मरता नहीं और कभी जीर्ण-शीर्ण नहीं होता। सौन्दर्य का लक्षण महाकवि कालि-दास के शब्दों में—

क्षणे क्षणे यन्नव्यतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः॥

प्रतिक्षण जिसमें नवीनता दृष्टि गोचर हो, वही सौन्दर्य का रूप है।

विश्ववृक्ष मधुर और आनन्द प्रेरक

प्रकृति रूपी यह वृक्ष प्रभु ने मधुर रस पूर्ण बनाया है ताकि जीवात्मा इसमें ही रहता हुआ मोक्ष पथ की ओर अग्रसर हो सके। वेद के निम्न मंत्रों में विश्व के इस माधुर्य का कितना हृदयग्राही और प्रभावी वर्णन किया गया है—

(१) ओ३म्। मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥

(२) ओ३म्। मधु नक्त मुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥

(३) ओ३म्। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधु माँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ ऋग् १। ९०।६, ७, ८।

इस विश्व में सत्य के मार्ग पर चलते हुए हे भगवन् ! हमारे लिए वायु का प्रवाह मीठा हो, समस्त नदियाँ मधु का क्षरण करने वाली हों और सब खाद्य पदार्थ मधुरस पूर्ण हों। रात्रि का समय और उषाकाल मधुमय हों, पृथ्वी के कण मीठे हों, और पिता के सदृश पालक द्युलोक मधु-वर्षक हो। हमारे लिए समस्त वनस्पतियां मधुर हों, सूर्य रश्मियां मेरे आत्मा

में माधुर्य का संचार करने वाली हों और गौ इत्यादि पशु भी मधुरता युक्त हों।

अथर्व वेद ११।७।२६ के निम्न मंत्र में इस विश्व में जीवात्मा को चार प्रकार के आनन्दों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होने का उपदेश दिया गया है—

ओ३म् । आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ।।

(१) (आनन्दाः) मोक्ष सुख (२) (मोदाः) सांसारिक पदार्थों का सुख (३) (प्रमुदः) पारिवारिक प्रसन्नता (४) (अभीमोदमुदः) चारों ओर व्याप्त वातावरण अथवा परिवेश और परिस्थितिजन्य सुख—ये सब सुख उस अविनाशी परमात्मा की कृपा से ही इस संसार में ईश्वरार्पित जीवात्मा को प्राप्त होते हैं। १०।१ शिक्षा अध्याय, तैत्तिरीय उपनिषद् में त्रिशंकु ऋषि ने प्रार्थना की है "अहं वृक्षस्य रेरिवा" "मैं इस संसार रूपी वृक्ष पर बार-बार चढ़ने वाला हूँ", अर्थात् मोक्ष प्राप्ति तक इस संसार में आता रहता हूँ।

यह विश्व इतना आनन्द सागर है पर भाग्यहीन आत्मा अपने कुकर्मों से फिर भी दुःख प्राप्त करता है—यह महान् आश्चर्य का विषय है। वेद कहता है—

ओ३म् । अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् । मृडा सुक्षत्र मृडय ।। ऋग्० ७।८९।४

जल-सागर के मध्य स्थित होता हुआ भी यह जीव जल के लिए प्यासा है। हे सर्वशक्तिमन् प्रभो ! इस जीव पर दया करो, दया करो ! भक्त कबीर ने ठीक ही कहा है—

जल विच मीन प्यासी, यह देख मोए आवत हाँसी ।।

सौन्दर्य का अपरिमित भंडार—वन

इस अध्याय के आरम्भ में "वृक्ष" शब्द युक्त यजुर्वेद के १७।२० मंत्र का हमने जो उल्लेख किया है, उसमें "वृक्ष" के साथ-साथ "किम् स्विद् वनं" "वह वन कौन-सा है" यह वाक्यांश भी आया है। "वन" का क्या अभिप्राय है। वन वह है जिसमें ६ प्रकार की वनस्पतियां हों, (१) वृक्ष (२) पौधे, (कन्द फूल सहित) (३) लता (ऊपर चढ़ने वाली) और (४) बल्ली (नीचे भूमि पर फैलने वाली) बेलें, (५) त्वक् सदृश क्षीण पौधे तथा (६) तिनकों के विभिन्न प्रकार के पौधे—इन सबको वृक्ष जातीय ही कहा गया है। वन को नयनाभिराम बनाने में इनमें से प्रत्येक का योगदान है। प्रकृति का सौन्दर्य नगरों और मानव निर्मित स्थानों पर नहीं देखा जा सकता। वन, पर्वत नदी, समुद्र इत्यादि ही ऐसे स्थल हैं, जो मानव के क्रूर और बुद्धिहीन हाथों से अभी तक अस्पृश्य हैं—जहां प्रकृति सर्वथा निर्वसना होकर अपनी दिव्य मनोज्ञता को मुक्त हाथों लुटाती हैं। यह सब सौन्दर्य के अक्षय भण्डार हैं। वन में निवास करने वाले, अनेक प्रकार के पशु-पक्षी तथा अन्य प्राणी जहाँ वन की रमणीयता को बढ़ाते हैं, वहाँ साथ ही अपने नैसर्गिक क्रियाकलाप और चेष्टाओं से मानव को शिक्षा तथा मनोरंजन के अवसर भी प्रदान करते हैं।

संस्कृत साहित्य में वनश्री का वर्णन

वन शोभा का मनोहारी वर्णन संस्कृत और हिन्दी कवियों ने बड़े मनोहर और हृदयग्राही शब्दों में किया है। कुछ बानगी देखिए—

(१) नीपस्कन्धे निवसति लसद् बर्हभारो मयूरो,
दीर्घापाङ्गश्चरति च तृणं शाद्वलेऽयं कुरंगः।
कुम्भेनोच्चैः स्पृशति विटपे सल्लकीं कुञ्जरोऽसौ,
कस्मै नायं कमलनयने रोचतेऽरण्य भागः॥

वृक्ष की शाखा पर अनेक सुन्दर पंखों के भार से युक्त मोर शोभायमान हो रहे हैं. नीचे सरोवर के पास लगी घास को हिरण खारहा है, हाथी अपनी सूंड से वृक्ष की चोटी का स्पर्श कर रहा है, ऐसी अरण्य-शोभा किसके कमल नेत्रों को प्रसन्न नहीं करती है ?

(२) श्रोत्रं हंसस्वनोऽयं सुखयति दयिता नूपुराह्लादकारी,
दृष्टि प्रीतिं विधत्ते तट तरु विवरा लक्षिता सौधमाला।
गन्धेनाम्भोरुहाणां परिमल पटुना जायते प्राणसौख्यम्,
गात्राणां ह्लादमेते विदधति मरुतो वारिसंपर्कशीताः॥

नारी के पैर में बंधे आनन्दप्रद नूपुर ध्वनि के सदृश हंस का शब्द कितना सुखप्रद है, नदी तट पर स्थित वृक्षावलि दृष्टि को प्रसन्न करने वाली है, कमल-दल से आपूरित सुगन्ध नासिका में मस्ती भर रही है, जल कणों के सम्पर्क से मन्द बहता वायु शरीर के अंगों को प्रस्फुरित कर रहा है।

(३) मधुरमिव वदन्ति स्वागतं भृङ्गनादैः
नतिमिव फलनम्रैः कुर्वतेऽमी शिरोभिः।
ननु ददत इवार्घ्यं पुष्प वृष्टि किरन्तः,
कथमतिथि सपर्यां शिक्षिताः शाखिनोऽपि॥

एक यात्री जब वन में प्रवेश करता है तब समूचा अरण्य उसका स्वागत करता है, कैसे ? कवि के शब्दों में—भ्रमर अपनी गूंज की मधुरता से उसका आदर करते हैं, फलों से लदे वृक्ष नम्रता से अपना सिर झुका रहे हैं, वृक्ष पुष्प वर्षा से उसे अर्घ्य दे रहे हैं—ऐसा प्रतीत होता है कि यह समस्त अरण्य अतिथि सेवा में शिक्षित है।

हिन्दी साहित्य में वन शोभा

हिन्दी कवियों के भी वनश्री वर्णन के कुछ प्रसंग हम यहां उपस्थित करते हैं—

(१) कूलन में केलिन में कछारन में कुंजन में
क्यारिन में कलित कलीन किलकत हैं।
कहै पद्माकर परागन में पानहू में
पानन में पीक में पलाशन पगंत हैं।

द्वार में दिशान में दुनी में देश-देश में,
देखो दीप दीपन में दीपन दिगंत है।
वीथिन में व्रज में नवेलिन में वेलिन में
बतन में बागन में बगरो बसन्त है।।
(कवि पद्माकर)

(२) फूले अनार कचनार अशोक जाल
धारे रसाल नव पल्लव लाल लाल।
चम्पा-कली हर रही मनु रूप राशि
श्रीमद् वसन्त-नृप की बलि दीपिका सी।।
फूले फले अब सभी द्रुम हैं सुहाते,
बैठे विहग जिनकी सुषमा बढ़ाते।
शोभा मनोज्ञ शुक के मुख की चुराये,
लेते पलाश वन में मन को लुभाये।।
विविध पुष्प खिले छबि वन्त हैं,
अति मनोहर रंग अनन्त हैं।
मधुप को करते मधु दान हैं,
अतिथि का करते सब मान हैं।।
खिल गये अब पंकज-पुंज हैं,
कर रहे जिन पै अलि गुंज हैं!
मिट तुषार गया सब सर्वथा,
विशद कान्ति हुई शशि की तथा।।
भ्रमर-शब्द मनोहर गान है
सुमन ही जिनकी मुसकान है।
पवन कम्पित मंजु लता, सब
सुखद नृत्य मनो करती अब।।
स्वर्ण भूषण कर्णिकार जिसका अत्यन्त शोभा सन
धारे किंशुक रूप लाल पट जो सौन्दर्यशाली बना।
भाती कज्जल सी ललाम जिसके है मँजु भृंगावली।
लेती मोह वनस्थली न किसको यों अंगना सी भली।।
(कविवर श्री ठा० गोपाल शरण सिंह)

विश्व की इस अनोखी, रसपूर्ण और सहज सुषमा को निहार कर किसका मन आनन्द विभोर न होगा? कौन इन रम्य वनस्थलियों का अवलोकन कर इस रमणीयता और सौन्दर्य के स्वामी प्रभु का गुणगान करता हुआ उसके विशाल, अदृश्य, सर्वव्यापक चरणों में अपने को सर्वतोभावेन अर्पित नहीं करेगा? परमदेव के इस अविनश्वर महाकाव्य का आत्म दर्शन कर कौन मस्ती में झूमेंगा नहीं? वनस्थली में स्वच्छन्द, निर्भय, अहर्निश क्रीड़ा करते पशु पक्षियों को देख किसके मन से निराशा का अन्धकार दूर नहीं होगा? निश्चय ही इस समूची शोभा और प्राकृत लीला को देख मानव का हृदय आनन्द, उल्लास और पुनीत भावनाओं से आच्छादित हो जाएगा।

उपनिषद् में "वन" का आध्यात्मिक रूप

केन उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन करते हुए उसे "वन" नाम से उपासितव्य कहा गया है—

तद्ध तद् वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् ।। ४ । ६

वह ब्रह्म "वन" है और "वन" की उपासना करनी चाहिए । "वन" में दो अक्षर हैं जिसमें 'व' से "वन्दनीय" और 'न' से "नमनीय" का अभिप्राय है । अर्थात् वह परमेश्वर सर्वाधिक वन्दना और स्तुति करने योग्य है और वही एक मात्र है जिसके सम्मुख प्रत्येक को "नमन" करना चाहिए । जो प्रभु के सम्मुख शुद्ध अन्तःकरण और भक्तिपूर्ण हृदय से वन्दना करेगा और विनम्रता से अपने दुर्गुणों के निवारण और सद्गुणों के धारण की प्रार्थना करेगा, अवश्य ही वह अपने जीवन को सफल कर सकेगा ।

इस सृष्टि में "वृक्ष" और "वन" दोनों के एक साथ आबद्ध स्वरूपों पर हमने लौकिक और आध्यात्मिक—दोनों दृष्टियों से विचार किया । जब मानव इस "विश्व वृक्ष" पर सम्यक् प्रकार से आरूढ़ और इस पर स्थित होना सीख लेगा और जब "वन" की शोभा से अपने जीवन को कमनीय बना लेगा तथा प्रभु की "वन्दना" और उसके सर्वव्यापी चरणों में "नमन" करेगा—तभी वह तीनों तापों से छूट मोक्ष पथ का यात्री बन सकेगा ।

—

८

आचार्य आश्रम से विदा : शिष्य जीवन-मार्ग की खोज में

श्वेतकेतु ब्रह्मचारी अपने अन्य कुछ साथियों सहित अंगिरस आचार्य के आश्रम में २५ वर्ष की आयु तक रहा । ७ वर्ष की आयु में वह आचार्यकुल में प्रविष्ट हुआ । वहां ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हुए उसने बहुत कुछ सीखा । आचार्य श्री अंगिरस ने अपने तपःपूत और निर्मल जीवन और विविध विद्याओं के अध्यापन से इन बालकों को ऐसा योग्य बना दिया कि वे अब स्वतन्त्र रूप से जीवनपथ पर चलने में सशक्त हो सकें ।

गुरुकुलीय जीवन का स्वरूप

आचार्य की छत्रच्छाया में श्वेतकेतु बाल्यकाल से यौवन के प्रथम चरण तक निश्चिन्त भाव से रहा । संसार के घटना प्रवाह और उथल-पुथल से वह इन समस्त वर्षों तक सर्वथा अप्रभावित ही था । अपने परिवार में माता-पिता, भाई-बहिन और

अन्य आत्मीय जनों की कैसी हालत रही, किस प्रकार उनकी जीवन-यात्रा चलती रही, किसका जन्म और किसकी मृत्यु हुई—इत्यादि समाचारों से श्वेतकेतु इन १८ वर्षों में सर्वथा अस्पृष्ट और अनभिज्ञ ही रहा। गुरुकुल के नियमों के अनुसार, पारिवारिक व्यक्तियों से मिलना व उनसे किसी प्रकार सम्पर्क रखना सर्वथा वर्जित था। यह इसलिए ताकि ब्रह्मचारी एकाग्र भाव से विद्या अध्ययन करता हुआ सांसारिक हर्ष शोक से असंपृक्त रहे। श्वेतकेतु और उसके सहपाठियों ने पूरी तन्मयता के साथ इन नियमों का पालन किया। इन सब छात्रों का आपस में बड़ा स्नेह और सौहार्द था। गुरुकुलीय जीवन तो संसार की रंगरेलियों से दूर, विविध नवीनताओं और रुचि भेदों से पृथक्, माता-पिता सम्बन्धीगण के लाड़-प्यार-दुलार से विच्छिन्न और एकान्त वनस्थली में वर्षों तक एक रस की दिनचर्या। इससे जीवन में शुष्कता और नीरसता आने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार का उत्तेजनाशून्य जीवन, बहुधा, भारस्वरूप प्रतीत होने लगता है। पर आश्रम जीवन और वहाँ के चतुर्दिक् परिवेश को ठीक प्रकार समझ लेने से यह आशंका निर्मूल हो जाती है।

आश्रम के चारों ओर मनोहर वन सुषमा

निश्चित रूप से, यह आचार्य कुल और गुरुकुल वन्य प्रदेश में ही स्थित थे। बाह्य-जीवन के उतार-चढ़ाव रूप विविध घटना चक्र की उत्तेजनाओं से रहित थे। ये रजोगुण शून्य थे। पर, इस संघर्षमूलक परिवेश से अपने को विलग कर जरा किसी अरण्यस्थल की सुषमा को तो निहारो। कैसा मनोज्ञ वातावरण है। चेतन-अचेतन जगत् का मनमोहक सह-अस्तित्व है। क्या ऐसा अनोखा सौन्दर्य ईंट-पत्थर-गारा-काष्ठ निर्मित कृत्रिम वस्तुओं से प्रादुर्भूत हो सकता है? बिना किसी प्रकार के विज्ञापन व आत्म श्लाघा के प्रत्येक वृक्ष, पौधा, लता, गुल, पत्र, पुष्प, शाखा यथा स्थान, यथाक्रम और व्यवस्थित रूप से एक सूत्र में पिरोये हुए हैं। इस अरण्य स्थल में ही, साथ-साथ, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, सरोवरों में स्थित मीन-मत्स्य आदि विद्यमान हैं। सन्तुलित, सहयोगपूर्ण, सह-अस्तित्व, जड़-चेतन जीवन का कैसा अनिर्वचनीय यह मूर्त्त रूप है। संसार की राजसिक उत्तेजनाओं से क्या यह किसी प्रकार कम आह्लादप्रद और सरस है? क्षण-क्षण में नवीनता के सुन्दर, सुवासित और सरस परिधान मंडित प्रकृति की यह रमणीयता पारस्परिक द्वन्द्वशून्य, अगाध, प्रशान्त और सतोगुणमय है। इसे देख क्या कभी किसी के हृदय में तनिक भी कालुष्य आ सकता है? क्या कभी परद्रोह, जुगुप्सा, मात्सर्य इत्यादि दुर्भावनाएँ भड़क सकती हैं? ऐसे वन्य प्रदेश में स्थित ऋषि आश्रम अपरिमित विभिन्नता, विविधता और बहुरूपता की प्रेरणा देता हुआ जीवन में क्या कभी शुष्कता, नीरसता और अकेलेपन की भावनाएँ ला सकता है? एक संस्कृत कवि ने ऋषि आश्रम का कितना स्वाभाविक वर्णन किया है—

> **रसालानामन्तर्मदकलरणात् कोकिल कुलम्,**
> **समन्तादुन्मीलद् वकुलमुकुलामोदभरितम्।**
> **घनस्निग्धच्छायं क्रमुक कदली शीतल तलम्,**
> **ननु प्रीतिं धत्ते नवमिदमृषेराश्रमपदम् ॥**

आम्र वृक्षों पर बैठी मस्त कोकिल चारों ओर गूँज रहीं हैं, सरोवरों में बगुलों के समूह आनन्द से मस्त क्रीड़ा कर रहे हैं, कदलीदल की घनी स्निग्ध छाया चारों ओर

फैल रही है। इस प्रकार का ऋषि आश्रम किसके मन को मुदित नहीं कर रहा है ?

श्वेतकेतु ब्रह्मचारी अपने सहाध्यायियों सहित अंगिरस ऋषि आश्रम में लगभग दो दशक रहता हुआ इन उदात्त भावनाओं से अपने मानस पटल को आप्लावित करता रहा। पर, कालचक्र की प्रतिक्षण परिवर्तनशील गति को कौन रोक सकता है ? सात वर्ष का अबोध बालक आचार्यकुल में १८ वर्ष तक तपःपूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने के बाद आज २५ वर्ष का गभरु, दृढ़ाँग, गठिततनु, तेजस्वी युवक बन गया। उसके अंग-प्रत्यंग से ओज और तेज प्रस्फुटित हो रहा था।

विदा होने की दुःखद घड़ी

अब आश्रम छोड़ने का समय आ गया। आचार्यश्री के चरणों से विलग हो संसारसागर में सन्तरण करने की घड़ी आ गयी। श्वेतकेतु सहित सब ब्रह्मचारियों को आचार्य अंगिरस ने अपने गहन ज्ञान भण्डर में से निःसंकोच उदारता से अहर्निश अमूल्य विद्या-रत्न दिये थे, और सन्तानवत् इन छात्रों का पालन-पोषण-परिवर्द्धन किया। पर, अब इन सम्बन्ध तन्तुओं के भंग करने का समय आ गया। कर्त्तव्यनिष्ठ और मोहशून्य आचार्य महोदय का हृदय भी इस आसन्न वियोग के स्मरण से डावाँडोल हो रहा था। शिष्यों का तो भला कहना ही क्या ? कोमल-मानस के इन युवक शिष्यों के लिए दोहरा वियोग था। एक आचार्य से और दूसरा सहपाठी के रूप में एक-दूसरे से। अरण्यवासी होने से मानव हृदय की सहज भावनाएं तो लुप्त नहीं हो जातीं। महाकवि कालिदास ने कण्व ऋषि की आश्रम-वासिनी पोष्य पुत्री शकुन्तला के वियोग में पितारूप कण्व के आभ्यन्तरिक अन्तर्द्वन्द्व का कितना तलस्पर्शी वर्णन किया है—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठस्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं ममतावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः,
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेष दुःखैर्नवैः॥

आज शकुन्तला अपने पति के साथ जाएगी—यह सोचते ही मेरा हृदय और गला रुंध गए हैं, और आँखें चिन्ता से पथरा-सी गयीं हैं। जंगल में रहते हुए आज जब मेरी यह अवस्था है, तब गृहस्थियों को अपनी उत्पन्न की हुई कन्या का वियोग—उसके विवाह होने पर क्यों, नहीं सताएगा ?

पर, अलगाव की घड़ी कैसे टल सकती थी ? श्वेतकेतु सहित समस्त शिष्य-वर्ग आचार्य अंगिरस की सेवा में समित्पाणि समुपस्थित हुए। अन्तर्वेदना आचार्य और शिष्यवर्ग—दोनों के मुखों पर झलक रही थी। श्वेतकेतु ने सब का प्रतिनिधित्व करते हुए कहा—

आचार्यवर ! इतने वर्षों तक आपके श्रीचरणों में रहने के पश्चात् आज हम आपसे विदा मांग रहे हैं। अरण्यबासी हमें संसार के विधि—निषेधों और उतार-चढ़ाव की पेचीदिगियों का तनिक भी परिचय नहीं है। गुरुकुल में रहते हमें कुछ शास्त्रीय ज्ञान तो उपलब्ध हो गया पर व्यावहारिक दृष्टि से हम सर्वथा अनजान हैं। इसलिए अपने परिपक्व अनुभव के आधार पर हमारा ऐसा पथ-प्रदर्शन कीजिए जिससे हम ठोकरें खाने से बच सकें।

जीवन मार्ग स्वयं खोजो

आचार्य महोदय ने आज गम्भीर और दृढ़ स्वर में अपने मुखारविन्द से कहा—

शिष्यो ! मेरे पास जितना शास्त्रीय ज्ञान था, वह मैंने तुम सबको अंकुठित और उन्मुक्त भाव से दे दिया है। तुम से कुछ गोप्य नहीं रखा। अब तुम सब आचार्य कुल से बिदा हो संसार में प्रवेश करने को समुद्यत हो। तुम्हारे सामने ऐसे अनेक अवसर आएंगे जब तुम अपने को एक चौराहे पर खड़ा हुआ पाओगे। वहाँ एक ही मार्ग का निर्णय करना—और वह मार्ग ठीक ही हो—यही तुम्हारे सामने सबसे बड़ी समस्या होगी। इस एक मार्ग की ही खोज करने का उपाय तुम जानना चाहते हो ?

श्वेतकेतु—भगवन् ! हम सब की यही जिज्ञासा है। आपका अनुमान सर्वथा ठीक है।

आचार्य—तुम्हारी जिज्ञासा शान्त करने से पहले मैं तुम्हें मार्ग-निर्धारण के सम्बन्ध में कुछ मूलभूत तथ्य समझाना चाहता हूँ। इससे मुख्य समस्या के हल में सुविधा रहेगी।

पहला तथ्य तो यह है कि संसार में ऐसा कोई पक्का, पुख्ता और सीमेंट किया मार्ग नहीं है जिस पर तुम अपना जीवन-रथ आराम से सरपट दौड़ाते हुए ले चलो। मार्ग सब ऊबड़-खाबड़ और झाड़-झंकड़ से भरे हुए ही मिलेंगे। तुममें से प्रत्येक को अपने हाथों काँटेदार झाड़ियों की सफाई करते हुए अपनी पगडण्डी निकालनी होगी।

एक शिष्य—अगर समस्त आयु मार्ग तलाशने और उसे परिष्कृत करने में ही लग गयी, तब उस पर चला कब जाएगा ?

अंगिरस आचार्य—तुम्हारी शंका समुचित है, ब्रह्मचारिन् ! पर तुम्हें यह नहीं भूलना होगा कि एक स्थान पर ही खड़े रहते कोई सड़क न बन पाती, न ढूँढ़ी जाती और न साफ की जा सकती है। यह काम तो पैरों को आगे बढ़ाते हुए ही होगा। यदि तुम अडिग भाव से पैरों को आगे चलाते जाओगे, तो मार्ग भी तुम्हें मिलता जाएगा और वह परिष्कृत भी होता जाएगा। क्या तुम वेद की यह शिक्षा भूल गए—

ओ३म् । अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम् ।। अथर्व ५।३०।७

प्रभु आदेश देते हैं, हे कर्त्तव्य ज्ञानी ! प्रेरणा दिया हुआ तू उन्नति के मार्ग को पुनः प्राप्त हो, क्योंकि ऊपर चढ़ना (आरोहण) और आगे बढ़ना (आक्रमण)—प्रत्येक जीवधारी का यही मार्ग और लक्ष्य है।

सब शिष्यों द्वारा एक स्वर से गुरुवर के प्रति अपनी इस शंका का समाधान होने का निवेदन करने के बाद एक अन्य शिष्य ने पुनः पूछा—भगवन् ! प्रयत्न करने पर भी जीवन-पथ स्पष्ट न हो तो फिर ?

आचार्य—तुम्हारा प्रश्न ठीक है। पर सुनो ध्यान से,—प्रयत्न करने पर भी जीवन-पथ यदि न सूझे, तब भी निराश मत होओ। प्रभु बड़े दयालु हैं। उनके इस नियम को मत भूलो। अमावस की पूर्णतमिस्राच्छन्न निशा, आकाश घनघोर,

मेघ घटाओं से परिपूर्ण, अपना ही एक हाथ दूसरे हाथ को देखने में अशक्त—ऐसी प्रलयंकारी रात्रि में भी गगन में विद्युत्-रेखा चमक उठती है, और तत्क्षण, मार्ग अन्वेषक को दिशा मिल जाती है। वेद की शिक्षा को क्या तुम फिर भूल गए—

ओ३म्। उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीळाः॥ ऋग् १०। १०१। १

एक समान विचार और लक्ष्य वाले मनुष्यो! तुम उठो, जागो, इस प्रकाश युक्त ज्ञानाग्नि को उत्तमता के साथ प्रज्वलित करो!!

कठ उपनिषद् में यम ऋषि ने अपने शिष्य नचिकेता को उपदेश देते हुए जो शिक्षा दी, मैं तुम्हें वह पुनः स्मरण कराना चाहता हूँ—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥
कठ—३। १४

हे मानव! उठो, जागो और इस ईश्वर प्रदत्त वर से अपने को लाभान्वित करो। जीवन का यह मार्ग छुरे की धार के समान तीक्ष्ण और कठिनता से पार होने वाला मार्ग है—ऐसा विद्वान् कहते हैं।

शिष्यवर्ग निःस्तब्ध भाव और एकाग्रचित्त से आचार्य श्री के इन स्फूर्तिप्रद शब्दों से अपने अन्तरात्मा को आप्लावित कर रहे तथा शंका-मुक्त हो रहे थे। अपने इस प्रसंग को जारी रखते हुए गुरुवर ने कहा—युवको! अब मैं तुम्हें जीवन-पथ-अन्वेषण का तीसरा सिद्धान्त बताना चाहता हूँ।

मार्ग लक्ष्य की ओर ही

चौराहे पर खड़े हो जब तुम्हें एक मार्ग का निर्वाचन करना है, तब किसी भी एक दिशा में मुँह उठाकर पग बढ़ाना ही समुचित न होगा किन्तु तुम्हें उस ओर ही चलना होगा जो तुम्हें अपने लक्ष्य तक ले जाने वाला हो। मार्ग की केवल चमक-दमक और उसका आरामदेह होना विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। सर्वाधिक महत्व जिस बात का है, वह है लक्ष्य प्राप्ति। यदि उस समय तुम्हारी बुद्धि सहायता नहीं करती, तुम्हारा शास्त्र अध्ययन रफूचक्कर हो जाता है, विवेक लंगड़ा हो जाता है, तब तुम क्या करोगे? क्या हाथ पर हाथ रख बैठ जाओगे? क्या आंख पर पट्टी बांध जिधर कदम उठेंगे, उधर ही चल पड़ोगे? अथवा क्या भेड़िया धसान की तरह तुम भी दूसरों के पिछलग्गू बन चल पड़ोगे? अगर तुम ऐसा करोगे तो, निश्चय ही, पथभ्रष्ट हो ऐसे गहन अरण्य में फंस जाओगे कि बाहर निकलना सहज नहीं होगा। अंगिरस आचार्य यहां कुछ क्षण चुप हो शिष्यों पर प्रश्नसूचक दृष्टि डालते हुए बोले—बताओ तब तुम लोग क्या करोगे?

एक शिष्य बोला—भगवन्! आपके ही श्री चरणों में आकर निर्देश की याचना करेंगे?

आचार्य—अगर किसी कारण मेरा-तुम्हारा साक्षात्कार न हो सका अथवा मेरा देहपात हो गया, जैसा कि एक दिन अवश्य होना है, तब क्या करोगे? शिष्य

कुछ उत्तर न दे सके और एक दूसरे की ओर ताकते हुए गुरु चरणों की ओर ही जिज्ञासा भाव से निहारने लगे।

पूर्ववर्ती ऋषियों द्वारा लक्ष्य का संकेत

आचार्यवर बोले—शिष्यो ! मुझसे पहले जो आदरणीय आचार्य वर्ग और शिष्ट महानुभाव हुए उनके सम्मुख भी तत्कालीन शिष्यों ने यही प्रश्न रखा था। उन पूर्ववर्ती ऋषियों ने अपनी दूरदर्शी मेधा से जो सदा अविस्मरणीय उत्तर दिया, वही तुम्हें बताता हूँ। ध्यान से हृदयंगम करो-—

(१) यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि।
यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

(२) ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

(३) अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्, तथा वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः॥

तैत्तिरीय उपनिषद्, शिक्षाध्याय ११। २, ३, ४।

(१) गुरुकुल से विदा हो, संसार में प्रवेश करनेवाले शिष्यों से आचार्य कहते हैं—हमारे जो निन्दा रहित कर्म हैं, उन्हीं का तुम अनुकरण करना, दूसरों का नहीं। हमारे जो श्रेष्ठ आचरण हैं उन्हीं को तुम अपने जीवन में लाना अन्यों को नहीं।

(२) तुम्हारे आसपास हमसे अधिक श्रेष्ठ जो विद्वान् और उत्तम पुरुष हों, उनके उपदेश को तुम ध्यान से सुनना। श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से भी देना। अपनी बढ़ती श्री में से देना, श्री न बढ़ रही हो, तब भी लोकलज्जा से देना, भय से देना, प्रेम से भी देना।

(३) ऐसा करते हुए भी यदि किसी काम में सन्देह उत्पन्न हो जाए, "धर्माचार" समझ न आये अथवा कैसे बरतना है—लोकाचार—समझ न आये, तो तुम्हारे आसपास के धर्म कार्य में स्वतः प्रवृत्त, प्रेरणावश प्रवृत्त, विचारशील, मधुर, अरूक्ष स्वभाव के धर्मानुसार सब पहलुओं पर विचार करनेवाले विद्वान् जैसे बरतें, वैसे ही बरतना। विवादास्पद विषयों में भी युक्त, आयुक्त, अरूक्ष, धर्मकाम, समदर्शी, विद्वानों का अनुगमन करना। यही आदेश है, यही उपदेश है।

अंगिरस और उनके सदृश पूर्वकालीन आचार्यों की इस विनम्रता, निरभिमानिता सहित सुनहरी शिक्षा और जीवन-पथ-प्रशस्तकारक उपदेश से समस्त शिष्य अति प्रभावित हुए। सब ने एक स्वर से निवेदन किया —भगवन् ! आपने श्रीमुख

से जो अमूल्य आदेश दिये हैं, हम सब इनका पालन करने में कोई प्रयास बाकी नहीं छोड़ेंगे। अंगिरस ऋषि ने शिष्यों के इस आश्वासन पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—ब्रह्मचारियो ! अब मैं तुम्हें जीवन-यात्रा का चौथा और अन्तिम सिद्धान्त बताना चाहता हूँ।

जीवन में परीक्षा के अनेक अवसर

अभी तक तुम लोग संसार की उथल-पुथल, ऊँच-नीच, आकर्षण-विकर्षण इत्यादि से एकदम असम्बद्ध हो, इस गुरुकुल के सीमित क्षेत्र में ही, मेरे और अन्य उपाध्यायों के निरीक्षण और सतत सान्निध्य, स्वच्छन्द, स्वच्छ परिवेश में इतने वर्षों तक तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए निवास करते रहे। यहां से विदा हो जब तुम संसार में जाओगे, तब इन सब बन्धनों से मुक्त, एकदम नयी परिस्थिति में होगे। वहां तुम पर किसी आचार्य व अध्यापक का नियंत्रण नहीं होगा। वहां तुम्हारी परीक्षा के अनेक छोटे-बड़े अवसर उपस्थित होते रहेंगे।

एक शिष्य बीच में ही बोल उठा—गुरुवर ! आपके चरणों में रहते हुए हमने इन वर्षों में इतनी परीक्षाएँ दी। क्या यहां से जाकर भी परीक्षाओं के चक्कर से छुटकारा नहीं मिलेगा ?

आचार्य—सौम्य ! तुमने यहाँ इस संस्था में रहते हुए जो परीक्षाएँ दीं, वह तो केवल पुस्तकों के अध्ययन और बाह्य शिक्षा पर ही आधारित थीं। यह तो तुम लोगों के भावी जीवन की महती परीक्षाओं का प्रवेश द्वार मात्र है। वहां मैं अथवा इस संस्था का कोई अन्य मेरा सहयोगी परीक्षक नहीं होगा। भविष्य की यह परीक्षा तो संसार लेगा, संसार की घटनाएँ लेंगी और तुम लोगों के सम्पर्क में आने वाले अनुकूल-प्रतिकूल व्यक्ति लेंगे। इतना तो असन्दिग्ध है कि यहां रहते तुम लोगों ने जो कुछ ज्ञान उपलब्ध किया है और जिस तपोमय जीवन से अपने को मांजा और परिष्कृत किया, वह सब एक अमूल्य निधि के रूप में तुम्हें भावी सांसारिक परीक्षाओं में डावांडोल न होने और साफल्य मंडित करने में परम सहायक होगा। पर, इसमें उत्तीर्ण होने से पहले तुम्हें इस परीक्षा की रूपरेखा से तो परिचित होना चाहिए, तभी तो उसका सामना करने में तुम सशक्त हो सकोगे।

एक शिष्य—भगवन् ! हम अबोध छात्रों को तो परीक्षा के नाम से ही भय लगता है। कृपया श्री मुख से इस पर विस्तृत प्रकाश डालने का कष्ट करें।

आचार्य—शिष्यवर ! भय करने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं। "परीक्षा" शब्द से ही घबरा नहीं जाना चाहिए। यह भी स्मरण रखो कि परीक्षा एक उस अग्नि के समान है जिसमें से निकल कर सोना कुन्दन बन जाता है। आत्मा का विकास इन अग्नि-परीक्षाओं से ही होता है। शिक्षा काल की परीक्षा तो निश्चित दिन, निश्चित समय और स्थान तथा निश्चित ग्रन्थों से पूछे गये प्रश्नों पर ही आधारित होती है पर यह जीवन-परीक्षा इन सबसे सर्वथा विभिन्न, बिना किसी पूर्व सूचना, स्थान, समय इत्यादि के किसी भी समय, कहीं भी, किसी भी अवस्था किसी भी ज्ञात-अज्ञात विषय पर, एक साथ, एक बार एकाधिक बार होती है और हो सकती है।

शिष्य—और उसमें उत्तीर्ण होने व न होने का निर्णय किस के हाथ में होगा ? परीक्षक कौन होगा ?

आचार्य—तुम्हारे ये दोनों प्रश्न बिल्कुल संगत हैं। पर वत्स! इस सत्य को निश्चय, दृढ़ता और श्रद्धा से हृदयंगम कर लो कि इस जीवन परीक्षा का परीक्षक कोई एक और निश्चित व्यक्ति नहीं होगा। संसार की दैनिक घटनाएं, परिस्थितियां और चतुर्दिक् व्यापी परिवेश, उससे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष सम्बद्ध व्यक्ति और समष्टि—सभी तुम्हारे परीक्षक होंगे। तुम उत्तीर्ण हो व अनुत्तीर्ण—इसका निर्णय कुछ अंश तक तो तुम्हारा अपना अन्तरात्मा और अन्तिम तथा अविकल रूप से परमात्मा ही स्वयं करता है।

श्वेतकेतु—भगवन्! आपने तो श्रीमुख से कहा था कि जीवन के चौथे सिद्धान्त का उपदेश दूंगा।

आचार्य—हां, हां, उस विषय की ओर ही आ रहा हूँ। यह प्रश्न गहन और उलझन भरा है। तनिक भूल से मनुष्य पथभ्रष्ट हो सकता है। इसलिए विशद रूप से तुम लोगों को समझाने के लिए इतनी लम्बी भूमिका मुझे बांधनी पड़ी है। इसे मानस पटल पर सुचारु रूप से अंकित कर लेने से यह चौथा सिद्धान्त समझना तुम शिष्यों के लिए सहज हो जाएगा।

९

जीवन के दो मार्ग—प्रेय और श्रेय

इस गुरुकुल से विदा हो जब तुम संसार के संघर्ष और द्वंद्वपूर्ण जीवन में प्रवेश करोगे तो तुम्हारे सामने दो प्रकार के मार्ग उपस्थित होंगे। प्राचीन ऋषियों के शब्दों में—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमात् वृणीते।
(कठ उपनिषद् २।२)

ये दो रूप हैं—"श्रेय और प्रेय।"

प्रेय मार्ग का स्वरूप

मेधावी और कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति इन दोनों की अच्छी प्रकार छानबीन, जांच-पड़ताल और ऊहापोह से परीक्षा करता है, जल्दबाजी में, तात्कालिक लाभ के मोह में नहीं फँसता। वह दूरदर्शी बन दोनों में ही उस श्रेय मार्ग का चयन करता है जो, अन्ततोगत्वा, कल्याणप्रद होता है। मन्दबुद्धि व्यक्ति तो संसार के योग क्षेम—सुख चैन से रहने—के लिए प्रेय मार्ग को ही स्वीकारता है।

बाह्य आकर्षक रूप

ऋषि अंगिरस ने इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा—संसार में तुम्हारे सामने ऐसे अवसर आयेंगे, जो बड़े आकर्षक, मनोहर और लुभावने होंगे। इस बाह्य रूप पर ही लट्टू हो तुम उन्हें प्राप्त करने के लिए लालायित हो जाओगे। कई बार तुम्हारा मन भी—क्षणिक सुख की कामना से—उधर ही झुक जायेगा। पर, इस लालसा के ज्वार भाटे के थम जाने के बाद तुम उसका निस्सारता अनुभव कर पछताओगे। एक उदाहरण से मेरा आशय स्पष्ट हो जाएगा—

जंगल में एक गीदड़ को बड़ी भूख लगी। कई दिन से कोई शिकार नहीं मिला था। भोजन की तलाश में वह पास के गाँव में चला गया। वहां एक ढोल पड़ा था। चर्म से मढ़े बड़े और फूले हुए ढोल को देख गीदड़ का दिल उछल पड़ा। उसने सोचा—"उस रब का कितना शुक्र है। आज कई दिन की भूख को भरपेट शान्त करूँगा।" बड़ी उत्सुकता से ढोल के पर्दे को अपने तेज नाखूनों से फाड़ दिया। भीतर घुसा तो देखा, सब कुछ खाली ही खाली था। खाने को रत्ती भर भी नहीं था। अत्यन्त निराश हो बाहर आ गया। इसी प्रकार मानव प्रेय मार्ग का अवलम्बन करता हुआ पहले प्राकृतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए हाथ—पैर मारता है, फिर उनके खोखलेपन को देख पछताता है। फलतः अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति के लिए भागदौड़, प्राप्ति की आशा में काल्पनिक सुख और प्राप्ति होने पर उसकी निस्सारता और क्षण भंगुरता से निराशा और हृदय में क्लान्ति और ग्लानि—इसी प्रकार जीवन चक्र सतत चलता रहता है। प्रेय मार्ग का यह एक रूप है।

तात्कालिक लाभ का मोह

इसका दूसरा रूप भी है। इसमें मनुष्य तात्कालिक और अविलम्ब लाभ को ही देखता है। "आज मजा ले लो, कल क्या होगा, किसने देखा है", यह मनोवृत्ति होती है। एक वाममार्गी के शब्दों में—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

जब तक जीए, अमन चैन से जीए, घी पीये, भले ही कर्जा लेकर क्यों न पीना पड़े। इस शरीर के भस्मीभूत हो जाने पर फिर दोबारा, पता नहीं मिले व न मिले।

इस मनोवृत्ति को ऋषि अंगीरस ने एक उदाहरण से स्पष्ट किया। एक जादूगर ऐसा तमाशा दिखाता है जिसमें कुछ ही क्षणों में चुटकी मारने व विशेष प्रकार की ध्वनि से एक वृक्ष खड़ा हो जाता है और उस पर फल भी लगे दिखाई देते हैं। उसके इस तमाशे से खुश हो चारों ओर खड़े दर्शकों में से कुछ पैसे उसे देने लगते हैं। अब वह झोली पसार उनके सामने चक्कर लगाने लगता है। इस तमाशे से भले ही कुछ क्षणों के लिए दिलबहलाव हो जाए पर इसमें तनिक भी सार नहीं होता। यह सब हाथ की करामात और जनता को मूर्ख बनाने की चालाकी है। अगर यह वृक्ष, वस्तुतः, फलदायक होता, तो वह जादूगर स्वयं ही क्यों न उसके फल खाकर व बेचकर तृप्त हो जाता? उसे तमाशा दिखाने के बाद झोली पसार माँगने की क्या जरूरत थी?

शरीर आत्मा का साधन हो

ऋषिवर ने कहा, अब मैं तुम्हें इस प्रेय मार्ग का तीसरा रूप भी बताना चाहता हूँ। मनुष्य केवल इन्द्रिय सुख प्राप्ति और उसकी तृप्ति में ही लगा रहता है। इन्द्रियों के संघात शरीर को ही जीवन का परम लक्ष्य मान बैठता है। इन्द्रियों की भोगशक्ति को बढ़ाने के कृत्रिम साधन तलाशता रहता है। एक के बाद दूसरे, तीसरे इत्यादि के पीछे छाया को पकड़ने के सदृश सदा व्याकुल और उद्विग्न रहता है। युवावस्था को इन ऐन्द्रियिक सुखों के पीछे नष्ट कर जब शरीर शिथिल और वार्धक्य में जीर्ण-शीर्ण तथा रोगों का घर बन जाता है, तब पछताता और दूसरों की निन्दा, शिकायत और बुराई करता है। फिर भी, वह अपने को सुधारने की ओर ध्यान नहीं देता। अब वह हृदय में संतप्त हो अनुभव करता है कि शरीर के अतिरिक्त एक अन्य स्थिर तत्व भी है, जो उसे सदा सत्प्रेरणा देता रहा पर वह उसकी उपेक्षा ही करता रहा। पर—

संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

जब मकान में आग लग जाए, तब कूँआ खोदने से क्या लाभ ?

शिष्य—तो क्या भगवन् ! शरीर की और संसार की हम सर्वथा उपेक्षा कर दें ?

आचार्य—नहीं, ऐसा कभी नहीं। यह सम्भव भी नहीं है। मानव शरीर को तो वेदों में "दैवीनौका", "वरुण की नौका", "स्वर्ण कलश", "देव मन्दिर" "देव नगरी" अयोध्या (न हिंसा करने योग्य) इत्यादि नाम दिये गये हैं। यह मानव देह अपने में सर्वथा पूर्ण और अद्भुत शिल्पकला का मूर्त्त रूप है। आत्मा तो अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म और निरवयव है। इस संसार में नवीन कर्म करने और संचित कर्मों का फल भोगने के लिए उसे कोई स्थूल साधन चाहिए। वह शरीर ही है। इसीलिए शरीर को "भोगायतनं शरीरम्" जीवात्मा के भोग का स्थान कहा गया है। अथर्व वेद के १०।७।२७ मंत्र में तो शरीर को ३३ देवताओं की कार्य भूमि कहा गया है। यह देवता हैं—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र और प्रजापति। गुरुकुल में रहते हुए तुम लोग जो प्रतिदिन प्रातः सायं सन्ध्या करते रहे हो और जो तुम्हें आजीवन करनी चाहिए, उसमें सबसे पहले शरीर के अंगों की नीरोगता और पुष्टि की ही प्रार्थना की गई है।

श्वेतकेतु—फिर शरीर और जगत् की वरीयता को आप क्यों खवित करना चाहते हैं ?

आचार्य—दोनों में से किसी को भी खवित व अपदस्थ करने का प्रश्न नहीं है। पर जो जिस पद के योग्य है, उसे वही स्थान देना चाहिये। शरीर आत्मा का साधन मात्र है, जैसे बढ़ई के हाथ में तेस्सा, जैसे दर्जी के हाथ में कैंची व सूई। मनुष्य तभी भयंकर भूल का शिकार होता है जब वह साधन को ही साध्य व लक्ष्य समझ उसी को पुष्ट और संतुष्ट करने में लग जाता है। यह शरीर तभी तक उपयोगी और सार्थक है, जब तक इसमें आत्मा की चेतन शक्ति है। उसके बिना तो यह काष्ठ-लोष्ठ् वत् है। इसलिए वरीयता आत्मा को मिलनी चाहिये, शरीर उसका साधन मात्र ही है। जगत् में भी प्राथमिकता आत्मा और उससे ऊपर "परमात्मा" की है, इस अचेतन और परिवर्तनशील प्रकृति की नहीं।

शिष्य—भगवन् ! प्रेयमार्ग का यह तीसरा रूप तो अपने पर्याप्त विशद रूप से हमें समझा दिया। अब आप कृपा कर यह उपदेश दीजिये कि प्रेयमार्गी की मानसिक अवस्था कैसी होती है ?

प्रेय मार्ग में मन की दशा

आचार्य—शिष्यो ! मैं तुम्हें स्वयं ही इस विषय का व्याख्यान करने वाला था। तुमने प्रश्न पूछकर अच्छा ही किया। प्रेयमार्गी इस चौथी स्थिति में सदा लालसा, वासना और अतृप्त तृष्णाओं से भरपूर, व्याकुल, चंचल, चिन्तित, उद्विग्न, अतृप्त, असंतुष्ट, दिङ्भ्रान्त, इतस्ततः दौड़ता हुआ और आशा-निराशा के जाल में आबद्ध रहता है। भगवान् कृष्ण ने गीता के १३वें अध्याय में श्लोक ९ से १६ तक इस प्रकार के व्यक्ति का यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। संक्षेपतः वह इस प्रकार है—

> मलिनसचित्त, अल्प बुद्धि, उग्र कर्म स्वभाव, जगत् का अहित करने में तत्पर, प्रबल वासनाओं का आश्रय ले, दम्भ, मान, मद से युक्त, दुर्विचारों को मोह से पकड़े, अपवित्र विचारों के साथ संसार में प्रवृत्त होते हैं। प्रलयकाल तक सीमारहित चिन्ताओं के चक्कर में फंसे कामनाओं के उपभोग को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। अनेक प्रकार की आशाओं के जाल में ग्रस्त काम-क्रोध युक्त अपने कामोपभोग के लिए अन्याय से धन का संचय करते रहते हैं। वे सदा यही सोचते रहते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया, अब इस मनोरथ को पूरा करूँगा, अब यह धन मिल गया, फिर यह धन मिलेगा—इसी प्रकार मग्न रहते हैं। अब मैंने इस शत्रु को मार दिया और दूसरे को भी मार दूँगा, मैं समर्थ हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् और सुखी हूँ। मैं उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, मेरे बराबर कौन है ? मैं यज्ञ करता हूँ, दान देता हूँ, प्रसन्न रहता हूँ—इस प्रकार अज्ञान में फंसे रहते हैं। अनेक प्रकार के चित्त विकारों से युक्त मोह जाल में फंसे कामभोगों में आसक्त—ऐसे मनुष्य अपवित्र नरक में गिरते हैं।"

प्रेयमार्ग के इन चारों स्वरूपों को समझने के बाद अंगिरस ऋषि ने कहा कि इस अल्पकालिक, बाह्यरूप से ही सुहावने और लुभावने आकर्षण से सदा अपने को बचाओ। कुछ समय बाद जब इसका वास्तविक रूप सम्मुख आता है, वह बड़ा घिनौना होता है। ऋषि ने कहा—जैसे कोढ़ का रोगी जब पहले खाज करता है, तब वह बड़ा मजा अनुभव करता है, पर कुछ समय बाद, लगातार खाज करने से, जब चमड़ी छिलकर रक्त निकलने लगता है, तब दर्द होता है और पछताता है। यही अवस्था प्रेयमार्ग की है।

अंगिरस ऋषि के इस विशद और अपरिमित शिक्षापूर्ण उपदेश को सुन शिष्यों ने करबद्ध गुरुचरणों में निवेदन किया—भगवन् ! अब जीवन के कल्याणप्रद और मंगलरूप श्रेयमार्ग के सम्बन्ध में हमें शिक्षा देकर अनुगृहीत करें।

ऋषिवर ने शिष्यों की इस जिज्ञासा पर हर्ष प्रकट करते हुए कहा—कल इस सम्बन्ध में मैं तुम्हें बताऊँगा।

——

श्रेयमार्ग के चार पड़ाव

अगले दिन भोर वेला में शिष्यगण समित्पाणि, विनयावनत मस्तक हो ऋषिवर अंगिरस के श्री चरणों में समुपस्थित हुए। आश्रम में पद्मासन पर विराजमान ऋषि समाधिस्थ थे। चतुर्दिक् अत्यन्त शान्त, नीरव और मनोहारी वातावरण था। गगन तारामंडल से अभी तक दीप्तिमान् था। उषाकाल का मन्द-मन्द समीर तन स्पर्श कर रहा था। सरिता की मस्त तरंगें तट के साथ अठ खेलियां कर रही थीं। कुसुम दल की पराग को अपने नन्हे पंखों में लपेटे भ्रमरवृन्द नन्हे-नन्हे पौधों पर झूल रहे थे। अमराई पर छिपकर बैठी कोकिल का पंचम स्वर, बीच-बीच में, इस नीरवता को भंग कर रहा था। शिष्यगण मौन धारण किये, एक दम निश्चल और प्रशान्त आचार्य के पास इस प्रकार बैठ गए जिससे उनकी योग मुद्रा में तनिक भी व्यवधान न पड़े। ध्यानावस्थित अंगिरस ऋषि के मुखमंडल से ब्रह्मतेज की उज्ज्वल रश्मियाँ चतुर्दिक् व्याप्त हो रही थीं। ऐसी रमणीय, मनोज्ञ, अन्तस्थलस्पर्शी वनस्थली में भला पाप के लिए कहाँ स्थान हो सकता था? ऐसी पुण्य सलिला अध्यात्म सरिता के सम्मुख कालुष्य-कर्दम भला कभी एक क्षण के लिए भी टिक सकता है?

चहुँ ओर अजस्र आनन्दधारा प्रवाह में ऋषि-नयन खुले। शिष्यों के विनीत अभिवादन को मन्द मुस्कराहट से स्वीकारते हुए आचार्य ने अपने कर कमलों से उन्हें आशीर्वाद दिया। बिना किसी भूमिका के अपने मुखारविन्द से वह बोले—

मैंने तुम्हें आज जीवन का वह मार्ग बताना है जिसे शास्त्रों में "श्रेय" नाम से कहा गया है। इसकी रूपरेखा क्या है—इसका निम्न वेदमंत्र में, स्वल्प शब्दों में ही, निर्देश कर दिया गया है—

ओ३म्। शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम।। अथर्व २। ११। ५

जिस पथ पर चलने से मानव में इन चार गुणों का विकास हो—वही श्रेय मार्ग है।

आत्मा शुक्र है

(१) शुक्र का अर्थ वीर्य, बल, शक्ति है। आयुर्वेद में "शुक्र" उस वीर्य को कहा जाता है जो विशुद्ध, परिपक्व, सुगंधियुक्त और श्वेतवर्ण हो।

श्वेतकेतु—क्या वीर्य भी किसी गंध और वर्णयुक्त होता है?

आचार्य—अवश्य! जो अखंड ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने वाला, जिसका आहार-विहार, शुद्ध, सात्विक और संयत, दैनिकचर्या नियमित और व्यवस्थित हो, उसके भोजन-रस का वीर्य रूप में जो अन्तिम परिपाक होगा वह सुगंधित, शुभ्र और अमोघ फलदायक होगा। ऐसे मनुष्य के लिए ही ऋषि पिप्पलाद ने प्रश्न उपनिषद्

में तीसरे प्रश्न का उत्तर देने के बाद कहा है—

न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति ॥११॥

इसकी सन्तान अकाल मृत्यु को प्राप्त नहीं होती और वह अमर पद को प्राप्त होता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति उच्छृंखल, असंयमी, दुराचारी, विषयलोलुप, इन्द्रियाधीन, भोजनभट्ट और कामव्यसनी होते हैं, उनका वीर्य दुर्गन्धयुक्त, किंचित् पीतवर्ण, स्खलनोन्मुख होता है, सन्तान भी रोगी, दुबली अल्पायु और अपमृत्यु का शिकार होती हैं।

"शुक्र" शब्द के लिए वेद में "वीर्य" शब्द भी कहा गया है। यजुर्वेद के १९।९ मंत्र में प्रार्थना है—

"वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि"

आर्याभिविनय में इस मंत्र का अर्थ करते हुए ऋषि दयानन्द "वीर्य" का अर्थ "सर्वोत्तम बल स्थिर मुझ में भी रखें"—ऐसा करते हैं। "वीर्य" सर्वोत्तम बल का नाम है। व्यक्तिगत बल चार प्रकार के हैं। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक। इन सब में "सर्वोत्तम बल" आत्मिक ही है। इसलिए श्रेयमार्ग के यात्री के लिए प्रथम साधन "सर्वोत्तमबल" अर्थात् "आत्मिक बल" की उपलब्धि करना है। योगदर्शन, समाधिपाद सूत्र २० में सब व्यक्तियों के लिए श्रेयमार्ग पर चलने के ५ साधन बताये गये हैं—

श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात् (१) श्रद्धा—ईश्वर और उसके नियमों में दृढ़ आस्था (२) वीर्य—आत्मा में उत्साह (३) स्मृति—उत्तम गुणों और विचारों का सदा स्मरण (४) समाधि—चित्त की एकाग्रता (५) प्रज्ञा—सत्य को धारण करनेवाली उत्कृष्ट बुद्धि। इस सूत्र द्वारा हम साधक का "वीर्य" शब्द पर—जिसे शुक्र का पर्यायवाचक कहा गया है—विशेष ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। साधक के "आत्मा में उत्साह" की अतिशय भावना होनी चाहिए। उत्साह वह संजीवनी बूटी है जिससे श्रेयमार्ग का पथिक दुर्गम बाधाओं पर सहज ही विजय प्राप्त कर लेता है।

(२) आत्मा "भ्राज"

(२) श्रेय मार्ग पर चलने का दूसरा गुण जो इस मंत्र में बताया गया है वह "भ्राज", अर्थात्, तेजस्वी होना है। कल्याण मार्ग का पथिक सदा शक्ति पूर्ण, बलिष्ठ और तेजयुक्त होता है। वेद में प्रार्थना की गयी है—

ओ३म्। तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि ॥

यजु० १९।९

ऋषि दयानन्द "आर्याभिविनय" में इसका अर्थ करते हैं। हे अनन्त तेज!! आप अविद्यान्धकार से रहित हो, किंच सत्य विज्ञान-स्वरूप हो। आप कृपादृष्टि से मुझ में वही तेज धारण करो, जिसमें निस्तेज, दीन और भीरू कहीं कभी न होऊँ··· अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इनके तैजसादि गुण कभी मुझ में से दूर न

हों, जिससे मैं आपकी भक्ति का स्थिर अनुष्ठान करूं और आपके अनुग्रह से संसार में भी सदा सुखी रहूँ।"

इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि श्रेय मार्ग का पथिक जहां प्रभु-भक्ति का स्थिर अनुष्ठान करने वाला हो, वहां नपुंसक, निस्तेज, दीन हीन, भीरू इत्यादि मानसिक दुर्गुण युक्त न हो।

शिष्य—भगवन्! मैं तो समझता था कि श्रेय मार्ग का अर्थ शान्त, निःस्पृह और एकान्तभाव से रहते हुए संसार के झंझटों से विरक्त जीवन-यापन करना ही है।

आचार्य—यह तुम्हारी बड़ी भूल है। श्रेय का शक्ति के साथ गहरा सम्बन्ध है।

श्वेतकेतु—भला यह कैसे? मोक्षमार्ग के लिए शक्ति की क्या आवश्यकता?

आचार्य—यदि श्रेय मार्ग मोक्ष प्रेरक है तो वह सशक्त के लिए ही है। गीता के प्रारम्भ में अर्जुन को भी ऐसी ही शंका हुई थी। वह पूछता है—

> **कार्पण्य दोषोपहत स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म संमूढचेताः।**
> **यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे, शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ २।७**

दीन हीन दशा को प्राप्त होने से मेरा क्षात्रभाव नष्ट हो गया है, मेरा मन अपने धर्म को भूल गया है, मेरे लिए जो श्रेय है, वह निश्चित रूप से तुम मुझे कहो, मैं तुम्हारा शिष्य होकर शिक्षा के लिए तुम्हारे पास आया हूँ।

विभिन्न युक्तियों से अर्जुन को समझाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

> **स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।**
> **धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥ २।३१**

क्षात्र धर्मानुकूल अपने युद्ध कर्त्तव्य का विचार कर तुम्हें डावांडोल नहीं होना चाहिए। धर्मयुद्ध से अधिक श्रेयस्कर क्षत्रिय के लिए अन्य कुछ नहीं है। श्री कृष्ण यहां तक कहते हैं—

> **श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।**
> **स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३।३५**

वर्णाश्रम धर्म के अनुसार अपना कर्त्तव्य पालन चाहे बाहर से सदोष दिखाई दे, तब भी दूसरे के वर्णाश्रम पालन से वह श्रेयस्कर है। अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए चाहे मृत्यु आये वह श्रेय है पर दूसरे के वर्णाश्रम धर्म की नकल भयंकर है।

इसलिए शक्तिहीन के लिए श्रेय मार्ग पर चलना सम्भव नहीं है।

(३) आत्मा "स्वः" है

आचार्य अंगिरस ने श्रेय पथ का तीसरा रूप इस वेद मंत्र के अनुसार बताया—"स्वरसि"—हे जीव! तू सदा आनन्दित रह।

प्रभु और उसकी व्यवस्था पर अविचलित और निरन्तर आस्था और विश्वास रखने से चित्त प्रसन्न रहता है। श्रेय मार्ग के यात्री के लिए इस प्रकार का चित्त-भूमि का स्थिर रहना अपरिहार्य है। इस स्थिति को प्राप्त करने के उपाय क्या हैं—यह गीता के निम्न श्लोक में उत्तम शब्दों में बताया गया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यै विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ २।६४

राग और द्वेष से रहित, विषयों में चरने वाली इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला जिसका आत्मा है, वह प्रसन्नता को प्राप्त होता है। इस प्रसन्नता का फल—गीता के ही शब्दों में—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ २।६५

चित्त के प्रसन्न रहने से सब दुःखों का क्षय हो जाता है और जिसका चित्त प्रसन्न है, उसकी बुद्धि शीघ्र स्थिर हो जाती है।

शिष्य—प्रतिकूल अवस्थाओं और आपत्ति आने पर चित्त प्रसन्न रखना तो बड़ा कठिन है। सामान्य पुरुष तो क्या महान् व्यक्ति भी इस परिस्थिति में डावांडोल हो जाते हैं। इसका उपाय क्या है ?

आचार्य—गीता के उपर्युक्त श्लोकों के अनुसार जिस समय इन्द्रियां मन के आधीन और राग द्वेष रहित हों, उस समय प्रतिकूल अवस्था में भी प्रसन्नता रहती है। दूसरा उपाय, अपने आप को, सदा अविचल भाव से "ईश्वरार्पण" करने की भावना का विकास करना है। जब मानव अपने आप को सर्वतोभावेन "तवैवाहं" "तस्यैवाहं" — "मैं तेरा ही हूँ" "मैं उसका ही हूँ"—इस प्रकार भगवदर्पण करता है और यह अटूट विश्वास रखता है कि मंगलमयी जगज्जननी द्वारा मेरा कभी भी किसी भी अवस्था में अहित नहीं हो सकता है, यह प्रतिकूल अवस्था भी मेरे कल्याण के लिए ही है, तब वह संकट पीड़ाप्रद नहीं रहता। इसी को योग दर्शन समाधिपाद में —

" ईश्वर प्रणिधानाद् वा " १।२३

सूत्र से अभिव्यक्त किया गया है। अर्थात्, पूर्ण रूप से अपने को ईश्वरार्पण करने से ही चित्त वृत्ति में उपशमन प्राप्त होता है।

सुख-दुःख मीमांसा

इसी प्रसंग में ऋषि अंगिरस ने आगे कहा—आनन्द अनुभव करने का तीसरा उपाय यही है कि आपत् काल और दुःख स्थिति में मानव यह समझे कि मेरे ही पूर्वकृत कर्मों का यह फल है। इसे सहना ही होगा। रोने-चिल्लाने और शिकवा-शिकायत करने से दुःख का अन्त तो नहीं होगा, अपने भीतर अधीरता और आत्म-हीनता का ही प्रादुर्भाव होगा। किसी घटना को देखने और सोचने के ढंग का मन पर गहरा प्रभाव होता है। किसी दुःख का ही उदाहरण लें। अगर मानव यह समझे कि इस दुःख से मेरे सिर से पाप का बोझ हल्का हो रहा है, मैं क्यों व्याकुल होऊं, तब, निश्चय ही, दुःख की तीव्रता अत्यन्त कम हो जाएगी। यह भी सोचे कि—

"सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते"

दुःख अनुभव करने के बाद ही सुख का महत्व होता है, जैसे आंवला कड़ुवा होता है पर उसके खाने के बाद ही जल मीठा लगता है। एक अन्य उदाहरण लें। प्रसव पीड़ा कितनी तीव्र होती है पर इस उग्र पीड़ा को सहने के बाद ही नारी मातृत्व का उच्चपद प्राप्त करती है। संसार में जितने महापुरुष हुए उनके जन्म समय में उनकी माता को क्या प्रसव पीड़ा नहीं हुई ? अगर इस प्रसव पीड़ा का विकट कष्ट इन महापुरुषों की माताएं न सहतीं, तो विश्व इतिहास में उनका और उनकी सन्तानों का नाम शाश्वत काल के लिए स्वर्णाक्षरों में कैसे अंकित रहता। मानव को यह तथ्य भी कभी नहीं भूलना चाहिए कि सुख और दुःख जोड़वे भाई के समान हैं, सदा एक दूसरे के साथ सम्बद्ध रहते हैं और—

चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च।

गाड़ी के पहिये के समान सुख-दुःख का चक्र अहर्निश सृष्टि के आदि से चलता रहा है और चलता रहेगा। ईश्वर की सृष्टि में यह भी नियम स्थिर है कि कोई भी व्यक्ति निरन्तर सुखी और निरन्तर दुःखग्रस्त नहीं रह सकता। एक व्यक्ति के लिए जो सुख है, वही दूसरे के लिए दुःख स्वरूप है। इसके विपरीत एक का दुःख दूसरे के लिए सुख बन जाता है। सृष्टि में असंख्य प्राणी हैं। अरबों मनुष्य हैं। सबको एक ही समय सुख और एक ही समय सबको दुःख—यह कैसे सम्भव हो सकता है। रुचि, अवस्था परिवेश, दृष्टिकोण आयु, ज्ञान इत्यादि अनेक हेतुओं से इसकी अनुभूति में—

"क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः"।

एक क्षण में रुष्ट है और दूसरे क्षण में सन्तुष्ट है—के सदृश प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। जब मानव आपत्ति को भगवान् का वरदान समझता है, तब वह सदा प्रसन्न चित्त हो दुःख का अभिनन्दन करता है।

दुःख प्रभु स्मरण का अमोघ साधन

ऋषि अंगिरस ने इसी सुख-दुःख की मीमांसा करते हुए आगे कहा कि "दुःख में मानव अपने को एक प्रकार से अशक्त और असहाय समझता हुआ, स्वभावतः, किसी महती शक्ति की अधिकार सत्ता का अनुभव करता है। उस समय उसका सारा अभिमान दूर हो जाता है। इस महती शक्ति का नाम ही परमात्मा है जिसे विश्व के सब धर्मों और सम्प्रदायों में विभिन्न नामों से स्मरण व पूजित किया जाता है। सुख में तो मानव अभिमान में आकर इस सर्वोच्च शक्ति को भूल भी जाता है। इस प्रकार दुःख ईश्वर स्मरण और ध्यान का एक सर्वोत्तम साधन है। इससे आत्मा शुद्ध और बलवान् होता है। मुंडकोपनिषद् में ऋषि कहते हैं —

ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं।
स्वस्ति वः पराय तमसः परस्तात्॥ २।२।६

अपने आत्मा में उस "ओ३म् (परमात्मा) का ही ध्यान करो, तुम्हारा कल्याण होगा, घोर अन्धकार से पार जाने का यही एकमात्र साधन है।

श्वेतकेतु—भगवन्! आपने सुख-दुःख की ऐसी युक्तिसंगत और भावग्राही व्याख्या की है, कि इस गुरुकुल से विदा होने पर संसार में हम आपके शिष्य कभी

इन उपदेशों को भूलेंगे नहीं। पर एक प्रश्न है। जब विपत्ति और दुःख आये, तब हमें मन में क्या सोचना चाहिए।

अंगिरस आचार्य—इस वेद मंत्र में "स्वरसि" शब्द द्वारा आत्मा में श्रेयमार्गी के लिए जो तीसरा उपाय सदा आनन्द अनुभव करनेका बताया गया है, उसके तीन साधन मैं तुम्हें बता चुका हूँ। चौथा साधन जो मैंने अब बताना था, तुम्हारा यह प्रश्न उसके अनुकूल ही है।

विपत्ति और दुःख आने पर उसके सामने कभी पराजय नहीं माननी चाहिए। उसके साथ संघर्ष करो। उसका मुकाबला करने और उसके निवारण के उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। जिस प्रकार पत्थर को पत्थर पर रगड़ने से उसके भीतर प्रच्छन्न अग्नि का बाहर प्रकाश हो जाता है इसी प्रकार संकट, दुःख, विपत्ति में मानव को अपने भीतर प्रसुप्त गुणों को अभिव्यक्त करने और उन्हें प्रदीप्त करने का अवसर मिलता है। इतिहास का एक उदाहरण देता हूँ।

संकट ने ही राम को महान् बनाया

दासी मन्थरा की दुरभिसंधि से कैकेयी का मन दूषित होगया और उसके माँगे गये दो वरों के फलस्वरूप अगले दिन प्रातः युवराज पद पर आरूढ़ होने वाले राम को तत्काल मुनि-वेश में १४ वर्ष के लिए वनवास के लिए अयोध्या से जाना पड़ा। छोटा भाई लक्ष्मण और रानी सीता भी तापस वेश में साथ गये। कितना महान् दुःख और आपत्ति राम के सम्मुख, एकदम, अप्रत्याशित रूप में आ गयी। पर, वह महापुरुष एक ओर राज्य सिंहासन और दूसरी ओर वन प्रेषण—दोनों में अविचलित रहा। वनवास में सीता हरण तथा अन्य अनेक संकट न आते तो राम बिना संघर्ष के इस अवधि के बाद अयोध्या वापस आ राज्यारूढ़ हो जाते। पर नहीं, कई संकट आये। भाई भरत सहित अयोध्या की प्रजा द्वारा राजगद्दी का प्रबल प्रलोभन आया, राम ने इस सम्पूर्ण स्थिति का साहस से सामना किया। लोक संग्रह के गुण से वानर सेना का संगठन, समुद्र पर पुल, पापी रावण से युद्ध, राक्षस विनाश, लंका विजय इत्यादि उदात्त गुणो से श्रीराम "मर्यादा पुरुषोत्तम" के रूप में लाखों वर्षों से न केवल भारत किन्तु विश्व-विभूति के रूप में सदा पूजनीय रहे हैं और यावच्चन्द्र दिवाकरौ पूजनीय रहेंगे। कैकेयी द्वारा पैदा की गयी विषम परिस्थिति ने श्रीराम को संघर्षमय जीवन में डाल दिया और उसके जीवन को अनन्त काल तक गुणागार बना दिया। अगर कल्पना करें, राम पर यह संकट न आता, तब उसका नाम इतिहास के पृष्ठों में वैसा ही विलीन हो जाता जैसे अन्य सैकड़ों-हजारों राजाओं के नाम विलुप्त हैं। उत्तम पुरुषों के चित्त की अवस्था सम्पत्ति-विपत्ति में कितनी अद्भुत हो जाती है, कवि के शब्दों में—

सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पल कोमलम्।
आपत्सु च महाशैल शिला संघात् कर्कशम्॥

सम्पत्ति और सुख काल में उत्तम पुरुषों का चित्त कमल सदृश कोमल हो जाता है और आपत्ति तथा दुःख उपस्थित होने पर महान् पर्वत शिला के साथ संघर्ष करने से कठोर हो जाता है।

श्वेतकेतु—भगवन्! इस आश्रम में आपके चरणों में इतने वर्ष तक निवास

करने से मेरे और मेरे सब सहपाठियों के जीवन में सम्पत् काल में संयम और विपत् दशा में चारित्रिक दृढ़ता, स्थिरता, धैर्य और कठोर आत्म अनुशासन की भावनाएं बद्धमूल हो गयी हैं। अगर हमें आपके श्री चरणों की छाया प्राप्त न होती, तब इन आध्यात्मिक गुणों से हम निश्चय ही वंचित रहते।

(४) आत्मा ज्योति-स्रोत है

आचार्य अंगिरस ने अब श्रेय पथ के चौथे पड़ाव का वर्णन प्रारम्भ करते हुए पुनः उपदेश के प्रारम्भ में कहे गये वेद मंत्र की ओर शिष्यों का ध्यान खींचा और कहा—ज्योतिरसि "—तू ज्योति, प्रकाश, है।"

जनक-याज्ञवल्क्य संवाद

"ज्योति का स्रोत क्या है।" इस सम्बन्ध में ऋषि वर ने बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय, तीसरे ब्राह्मण का उल्लेख करते हुए जनक राजा और ऋषि याज्ञवल्क्य के एक संवाद का वर्णन किया। राजा ने पूछा "किं ज्योतिरयं पुरुषः" पुरुष को ज्योति—प्रकाश—कहाँ से प्राप्त होती है। ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा—"आदित्य" से। राजा ने फिर पूछा "आदित्य के अस्त हो जाने पर पुरुष को ज्योति कहां से प्राप्त होती है?" ऋषि ने उत्तर दिया "चन्द्रमा से।" राजा—चन्द्रमा के अस्त होने पर ज्योति कहां से प्राप्त होती है? ऋषि—"अग्नि से।" राजा—आदित्य और चन्द्र के अस्त होने और अग्नि के शान्त होने पर ज्योति कहां से प्राप्त होती है? ऋषि—वाणी से। राजा—आदित्य और चन्द्र के अस्त होने, अग्नि और वाणी के शान्त हो जाने पर ज्योति कहां से प्राप्त होती है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—आत्मा से—

आत्मनेवायं ज्योतिषास्ते पल्लयते कर्म कुरुते विपल्येतीति।
४।३।६

आत्मा की ज्योति से ही इस पुरुष का अस्तित्व रहता, यह उठने-बैठने, चलने-फिरने की विविध क्रियाओं को करता है।

शिष्य—"आत्मा की ज्योति" का क्या अभिप्राय है? इस ज्योति का स्रोत क्या है?

आचार्य—"आत्मा की ज्योति" का अभिप्राय आत्मा के अन्दर, स्वभावतः, उत्तम कर्म करने की प्रेरणा और पाप कर्म से घृणा होती है। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में ईश्वर सिद्धि प्रसंग में निम्न शब्दों द्वारा इस "आत्म ज्योति" का युक्ति पूर्ण स्वरूप बताया है—

> **"और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता, वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा, तथा अच्छे काम करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है।"**

यही आत्म ज्योति है। इसकी प्रेरणा सदा प्रभु की ओर से होती रहती है—जैसा कि ऋषि के ऊपर के उदाहरण में कहा गया है। इस आत्म ज्योति को सतत देदीप्यमान और ज्वलन्त रखने के लिए आत्मा को हर क्षण प्रभु की ओर समर्पित रखना चाहिये। आत्मा में अजस्र उत्तम और उन्नति प्रेरक विचारों को प्रवाहित करना चाहिए, स्वाध्याय सत्संग और ईश्वर स्तुति प्रार्थना द्वारा। दैनिक यज्ञ के प्रारम्भ में ही यह मंत्र पढ़ा जाता है—

ओ३म्। उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि ॥ यजु १५। ५४

हे अग्नि! तू मेरे आत्मा में निरन्तर जाग। जहां इस मंत्र द्वारा यज्ञ कुंड में अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है, वहां आत्मा के भीतर भी ज्ञान, भक्ति और प्रभु अर्पण रूपी अग्नि प्रज्वलित करने की प्रार्थना यजमान करता है। अथर्व वेद के निम्न मंत्र में आत्मा के क्रमशः उत्थान की कामना इसी दृष्टि से प्रभु भक्त करता है—

ओ३म्। पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षात्
दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥
अथर्व ४। १४। ३

हवाई जहाज जब हवाई अड्डे से उड़ान प्रारम्भ करता है, तब पहले पृथ्वी से उठकर अन्तरिक्ष की ओर क्रमशः उड़ता जाता है। ऐसी ही आत्मा इस पृथ्वी पर सशरीर रहता हुआ अपनी विचारशक्ति को अन्तरिक्ष के सदृश उच्चता और द्युलोक के सदृश प्रकाश की ओर ले जाता हुआ उस सुख स्वरूप ईश्वर-ज्योति तक पहुँचने वाला होता है।

शिष्य—यदि आत्मा में ईश्वर की प्रेरणा से शुभ विचारों का प्रादुर्भाव होता है, तब यह प्रेरणा तो सदा ही प्राप्त होती रहती है। फिर आत्मा में पाप के विचार कहां से आते है ?

ब्रह्म-जीव सम्बन्ध स्वरूप

आचार्य—तुम्हारा यह प्रश्न सर्वथा संगत है। इसे समझने के लिए तुम्हें परमात्मा-जीवात्मा के पारस्परिक सम्बन्धों को संक्षेप में जान लेना चाहिए। यह इस प्रकार है—(१) दोनों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है। (२) दोनों में अटूट और अखंड सान्निध्य है (३) परमात्मा सर्वव्यापक होने से जीवात्मा के भीतर-बाहर दोनों प्रकार से निरन्तर एकसम विद्यमान है पर जीवात्मा केवल एक स्थान पर ही स्थित है। शास्त्रों की भाषा में ईश्वर को विभु और जीवात्मा को अणु कहा जाता है। (४) जीवात्मा कर्म करने में स्वतंत्र है पर फल भोगने में ईश्वर के नियमों के आधीन है। (५)जीवात्मा अपने कर्म फल के अनुसार संसार में सुख-दुःख भोगता है। परमात्मा निराकार होने से किसी प्रकार के कार्य व कर्मफल भोग के बन्धन में नहीं आता।

यद्यपि ईश्वर ने यह सृष्टि जीवात्मा को उत्तम कर्म करने और तदनुकूल फल भोगने के लिए रची है पर कर्म करने में स्वतंत्र होने से जीवात्मा इस सृष्टि में शरीर धारण कर अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म करने के लिए स्वाधीन है। फलतः, जब आत्मा मन के आधीन और मन इन्द्रियों के पीछे और इन्द्रियां संसार के विषयों में लिप्त हो जाती हैं, तब आत्मा पाप मार्ग पर चलने लगता है। इसके विपः

रीत जब इन्द्रियां मन के आधीन, मन आत्मा के आधीन और आत्मा परमात्मा अर्पित होता है, तब वह पुण्य मार्ग का यात्री बन जाता है। इसी सिद्धान्त की पुष्टि गीता के निम्न श्लोकों द्वारा होती है—

(१) शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृति गृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥
(२) यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ ६। २५-२६

धैर्यपूर्वक बुद्धि के साथ अपने मन को धीमे-धीमे विषयों से पृथक् करे और इस मन को आत्मा के आधीन कर किसी प्रकार की फिर चिन्ता न करे। चंचल मन जिस जिस विषय की ओर जाए, उसे वहां-वहां से हटाकर आत्मा के ही वश में रखे।

इस पद्धति से, मनुष्य दैनिक अभ्यास करता हुआ, आत्मा को प्रभु अर्पित करे और सदा ज्योतिर्मय बनाये।

ऋषि अंगिरस ने इस ज्योति सम्बन्धी विषय को समाप्त करते हुए कहा कि मंत्र में आत्मा के उत्थान के चौथे साधन, "ज्योतिरसि" का अभिप्राय यही है। श्रेय मार्ग पर चलने का यह चौथा और अन्तिम पड़ाव है।

श्रेष्ठ मार्ग पर चल और...

इस मंत्र में बताये गये श्रेयमार्ग के चारों साधनों की विशद व्याख्या शिष्यों के सम्मुख उपस्थित करने के बाद ऋषिवर ने मंत्र की यह दूसरी पंक्ति सुनाई—

आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ अथर्व ३। ११। ५

ऋषि ने कहा—इसका अर्थ है हे मनुष्य! इन चारों साधनों का तू यदि तत्परता के साथ परिपालन करेगा तो तू, श्रेष्ठता को प्राप्त करेगा और अपने सदृश व्यक्तियों को लांघ जाएगा—अर्थात्, उनसे आगे बढ़ जाएगा। आचार्य अंगिरस ने इस उपदेश का उपसंहार करते हुए शिष्यों को समझाया कि अब तुम गुरुकुल की शिक्षा समाप्त कर संसार में प्रवेश कर रहे हो, तुम्हारे सामने अनेक उलझनें और समस्याएँ आएँगी। उस समय तुम्हें स्वयं इन सबसे निपटकर अपना मार्ग तलाशना होगा। वेदों और शास्त्रों की यह शिक्षाएं जिनका तुम्हारे सम्मुख इतने दिन तक मैंने विस्तार से वर्णन किया—तुम्हारा पथ प्रदर्शन करेंगी। मेरा पूर्ण विश्वास है, यह वेद मंत्र तुम्हें सदा श्रेयमार्ग पर चलने और अपने जीवन में सहयात्रियों से सहयोग की भावना से ही, स्पर्द्धा से नहीं, आगे बढ़ जाने के लिए प्रेरणा देता रहेगा। एक बात का सदा ध्यान रखो। जिस समय साथ चलने वालों से आगे बढ़ो, उस समय तुम्हारे हृदय में साथियों के लिए ईर्ष्या व घृणा की भावना न हो पर यह दृढ़ निश्चय हो कि तुमने अपने श्रेष्ठ और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से उन्हें भी अपने साथ आगे बढ़ाना है।

शिष्यो—इन शब्दों के साथ संसार यात्रा में तुम्हारी सफलता की कामना करता हुआ तुम्हें भूरि-भूरि अपने अन्तस्तल से आशीर्वाद देता हूँ।

समस्त शिष्य वर्ग की ओर से श्वेतकेतु ब्रह्मचारी ने आचार्य श्री अंगिरस के चरण कमलों में १४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास, शिक्षा प्राप्ति और संसार में

प्रवेश से पूर्व इस सारगर्भित अमृतमय दीक्षान्त उपदेश के लिए विनम्रता से नत-मस्तक हो हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की। प्रत्येक शिष्य ने आचार्यवर के श्री चरणों का बद्धाञ्जलि स्पर्श कर उनसे विदा ली।

११

याज्ञवल्क्य कात्यायनी-संवाद

तीन लोक : विजय के साधन

सुख, शान्ति, आनन्द

मनुष्य तीन इच्छाओं की पूर्ति में सदा संलग्न रहता है, सुख, शान्ति और आनन्द। सामान्यतः, हम, प्रायः, इन तीनों का इकट्ठा ही प्रयोग करते हैं और यही समझते हैं कि इनमें कोई भेद नहीं है। पर, आध्यात्मिक दृष्टि से इन तीनों में जहाँ भेद है, वहाँ इनकी प्राप्ति के साधन भी पृथक्-पृथक् हैं। सुख शरीर की इन्द्रियों का विषय है। शंकराचार्य विवेक चूड़ामणि में कहते हैं—

पंचीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलेभ्यः पूर्व कर्मणा।
समुत्पन्नमिदं स्थूलं भोगायतनमात्मनः।
अवस्था जागर स्तस्य स्थूलार्थानुभवो यतः॥

पाँचों स्थूलभूतों से पूर्वकर्मों के अनुसार उत्पन्न हुआ यह शरीर आत्मा का स्थूलभोगायतन, अर्थात्, सुख-दुःख-भोग का साधन है। जागृत अवस्था में इन स्थूल पदार्थों के सुख-दु;ख का अनुभव होता है।

शान्ति की प्राप्ति मन द्वारा होती है। विवेक चूड़ामणि के श्लोक सं० १७६ में शंकर स्वामी कहते हैं—

तस्मान्मनः कारणमस्य जन्तोर्बन्धस्य मोक्षस्य च वा विधाने।
बन्धस्य हेतुर्मलिनं रजोगुणैर्मोक्षस्य शुद्धं विरजस्तमस्कम्॥

मनुष्य के बन्धन और मोक्ष के विधान में मन ही कारण है। रजोगुण युक्त मलिन मन बन्धन का हेतु है और रज-तम से रहित मन सात्विक होने पर मोक्ष प्रेरक शान्ति का कारण होता है।

तीसरा और अन्तिम लक्ष्य आनन्द प्राप्ति है और इसका साधन शरीर और मन न होकर आत्मा ही है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के ३।१४ में ऋषि कहते हैं—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधौन्तम्।
तद्वत् आत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥

जिस प्रकार मिट्टी से लथ-पथ स्वर्ण अच्छी प्रकार धोने से तेजोमय होकर चमकने लगता है, इसी प्रकार जब आत्मतत्त्व को अच्छी प्रकार जान लेता है, तब शोकरहित हो आनन्द से कृतार्थ हो जाता है।

मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक

मानव जीवन की इन तीनों स्थितियों को, उपनिषद् की भाषा में, क्रमशः, मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक कहा जाता है। अभिप्राय यह कि जो व्यक्ति केवल सुख के पीछे भागता रहता है, वह मनुष्यलोक की स्थिति में है, जो शान्ति की कामना में व्यग्र है, वह पितृलोक में विचरण करता है और जो आनन्द प्राप्ति चाहता है, उसे देवलोक का यात्री समझना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद् में इन तीन लोकों के स्वरूप और उन पर विजय प्राप्ति के साधनों का विशद रूप से वर्णन किया गया है। याज्ञवल्क्य ऋषि जब अपनी पत्नी कात्यायनी को आत्मज्ञान का उपदेश दे चुके, तब देवी के एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने बताया कि सुख प्राप्ति के लिए मनुष्यलोक को, शान्ति प्राप्ति के लिए पितृलोक को और आनन्द प्राप्त के लिए देवलोक को किस प्रकार जीता जा सकता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम ब्राह्मण के १३वें श्लोक में ऋषि कहते हैं—

> **अथ त्रयो वाव लोकाः। मनुष्यलोकः, पितृ लोकः देव लोकः। मनुष्य लोकः पुत्रेणैव जय्यः नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृलोकः, विद्यया देव लोकः। देवलोकः वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्मात् विद्यां प्रशंसन्ति॥**

(१) मनुष्यलोक—विजय का साधन पुत्र ही

(१) सुख की प्राप्ति का स्थान मनुष्य लोक है और इसकी प्राप्ति पुत्र से ही हो सकती है, अन्य किसी कर्म से नहीं। इसका फलितार्थ यह है कि मनुष्यलोक में सुख की उपलब्धि का साधन पुत्र ही है। अर्थात् जो उत्तम मनुष्य है, वही सुख का अनुभव कर सकता है और पुत्र ही इसमें सहायक हो सकता है। सबसे पहले उत्तम पुरुष कौन है—इस पर विचार करना होगा। ऋषि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट स्तुति प्रार्थना उपासना के ८ मन्त्रों में निम्नलिखित पहला मन्त्र इस प्रश्न का समुचित उत्तर देता है—

> **ओ३म्। विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।**
> **यद्भद्रं तन्न आसुव॥ यजु ३०।३**

इस मन्त्र की पहली पंक्ति के अन्त में और दूसरी पंक्ति के अन्त में 'सुव' शब्द समान है पर 'पर' और 'आ' उपसर्ग लग जाने से 'सुव' धातु के जिसका मूल अर्थ 'उत्पन्न करना' है, अर्थ में सर्वथा विभिन्नता आ जाती है। पहली पंक्ति के 'परासुव' का अर्थ है 'दूर कीजिए' और दूसरी पंक्ति के 'आसुव' का अर्थ है 'प्राप्त कराइए'। इस मन्त्र की दूसरी विशेषता है कि पहली पंक्ति में 'दुरितानि' जिसका अर्थ ऋषि दयानन्द ने "दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों" किया है—बहुवचन में है। दूसरी पंक्ति में 'भद्रं' शब्द है और वह एक वचन है। इस शब्द का अर्थ ऋषिवर ने 'कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ' किया है। आप्टे की संस्कृत अंग्रेजी डिक्शनरी में

'दुरित' का अर्थ 'डिफीकल्ट' (कठिन), 'सिनफुल' (पापयुक्त) और 'ए बैड कोर्स' (बुरा मार्ग) किए गए हैं। बहुवचन में 'दुरितानि' का इस मन्त्र में प्रयोग करके वेद यह संकेत देता है कि 'पाप' अनेक प्रकार के हैं। यदि मनुष्य एक प्रकार के पाप व दुर्गुण-दुर्व्यसन से अपने को बचा लेता है अथवा उसका उन्मूलन कर देता है, तो यह आवश्यक नहीं कि, वह अन्य प्रकार के पापों से भी स्वतः मुक्त हो जाएगा। पाप के बहुमुखी मोर्चे हैं और मानव को सब मोर्चों पर पाप से लड़ने के लिए सदा सन्नद्ध रहना चाहिए। क्या हम संसार में यह नहीं देखते हैं कि एक मनुष्य निर्लोभी तो है पर क्रोधी है, दयालु और परोपकारी ही है पर अनृतवादी है अथवा आत्म प्रशंसा का भूखा है। त्यागी और तपस्वी तो है पर कामुक है। विश्वामित्र ऋषि त्यागी और तपस्वी तो थे पर मेनका अप्सरा के प्रति कामवासना में आसक्त हो गए। पाप की उपमा इसीलिए सर्प से दी जाती है। सर्प सदा वक्र गति से चलता है, सिंह के सदृश सीधा नहीं गति करता है। पाप भी विविध प्रकार की वक्र गतियों से चलने वाला होता है।

ऋषि दयानन्द ने 'दुरित' का अर्थ 'दुर्गुण' किया है, अर्थात्, बुरा गुण। यह परस्पर विरोधी अर्थ प्रतीत होता है, भला कभी गुण भी बुरा होता है, और वह गुण ही क्या, जो बुरा हो जाए। पर ऋषि के इस अर्थ में एक बड़ा मनोवैज्ञानिक तथ्य छिपा हुआ है। उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा। एक व्यक्ति प्रतिदिन प्रातः सन्ध्या, यज्ञ, स्वाध्याय इत्यादि करता है। उसका यह कितना श्रेष्ठ गुण है। पर वह किसी न किसी प्रकार अपने परिचितों और अपरिचितों में, इस अपने श्रेष्ठ कार्य की इश्तिहारबाजी भी अवश्य करता रहता है। अब उसका यह गुण 'दुर्गुण' का रूप धारण कर, उसके हृदय में एक प्रकार का 'अहंभाव'— कि मैं इन सब न करनेवालों से कहीं अधिक अच्छा और श्रेष्ठ हूँ,—पैदा कर देता है। श्रेष्ठ और धार्मिक पुरुषों में, प्रायः, यह निर्बलता आ जाती है कि वे अपना अधिक मूल्यांकन करने लगते हैं और दूसरों के प्रति, बहुधा, हेय दृष्टि अपना लेते हैं। इस प्रकार उत्तम पुरुष का यह गुणा भी 'दुर्गुण' का रूप धारण कर गया है। ऋषि ने इस प्रकार 'दुर्गुण' से छूटने का भाव 'दुरितानि' शब्द से अभिव्यक्त किया है।

इस मन्त्र की दूसरी पंक्ति में 'भद्रं' शब्द एक वचन में है जिसका अर्थ ऋषि के शब्दों में, 'कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ' है। पुण्य का मार्ग वक्र और विभिन्नता पूर्ण नहीं है। वह सीधा, सरल और एक सदृश है। पुण्य, धर्म और कल्याण का कोई एक भी कार्य जीवन को सुगन्धि युक्त बना देता है। गीता २।४० में श्री कृष्ण का निम्न वाक्य इस तथ्य की पुष्टि करता है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्

धर्म का थोड़ा भी आचरण भारी संकट से बचानेवाला होता है। इसी के अनुकूल गीता का ६।४० का निम्न वाक्य निराश व्यक्ति को कितना उत्साह देने वाला है—

न हि कल्याण कृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।

हे प्रिय अर्जुन ! शुभ कर्म करनेवाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

अब यह स्पष्ट हो गया कि उत्तम पुरुष वह है कि जो सब प्रकार के पापों के निराकरण और पुण्य मार्ग पर चलने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। याज्ञवल्क्य

ऋषि कहते हैं कि इस लक्ष्य की प्राप्ति पुत्र की सहायता से हो सकती है, अन्य किसी उपाय से नहीं। ऋषि के शब्द हैं—

मनुष्य लोकः पुत्रेणैव जय्यः नान्येन कर्मणा

इसका क्या अभिप्राय है ? पुत्र से ही मनुष्यलोक जीता जा सकता है, अन्य किसी कर्म से नहीं। यहां 'पुत्र' शब्द विचारणीय है। सब से पहले यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'पुत्र' शब्द केवल लड़के के लिए नहीं, किन्तु लड़का-लड़की दोनों के लिए वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। निरुक्तकार कहते हैं—

पुत्र से पुत्री का भी ग्रहण

अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायाद इति

'पुत्र' संज्ञा दोनों की है और दोनों दायभाग के अधिकारी हैं। निरुक्तकार इसकी पुष्टि में मनुस्मृति का निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।।

सृष्टि के आदि में स्वयम्भू के वंशज मनु ने यह कहा है कि दोनों—पुत्र-पुत्री-का धर्मानुसार दायभाग होता है। इसलिए इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार मनुष्य लोक जीतने के लिए पुत्र और पुत्री दोनों समान रूप से सहायक होते हैं। अतः यहां हम पुत्र शब्द का प्रयोग दोनों के लिए कर रहे हैं। पुत्र दो प्रकार के होते है—एक औरस जो माता-पिता के रजवीर्य के संयोग से उत्पन्न होते हैं और दूसरे मुखज जो आचार्य के श्री मुख से विद्या और ज्ञान प्राप्त कर पुत्र संज्ञा प्राप्त करते हैं।

पुत्र के पर्यायवाचक शब्द अपत्य और सन्तान भी हैं। पुत्र का लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार किया गया है—(१) "**पुन् नाम नरक स्तस्मात्त्रायत इति पुत्रः**"—जो नरक दुःख से बचाने वाला हो, उसे पुत्र कहते हैं—

(२) पुत्र का दूसरा अर्थ है—पुत्=पूरा करना "र" अभाव को, अर्थात् अभाव की पूर्ति करनेवाला।

(३) वेद में पुत्र को "शेप" कहा गया है। "शेष" **इत्यपत्य नाम, शिष्यते प्रयतः।**" शेष अपत्य का नाम है अर्थात् जो प्रयत्न से बचाया जाता है। माता-पिता के बाद "शेष" सन्तान ही बाकी रहती है और सन्तान को प्रयत्न से बचाया जाता है।

(४) पुत्र को "अपत्य" भी कहा जाता है "**अपत्यं कस्मादपतनं भवति नानेन पततीति वा।**" अपत्य इसलिए कि इसके द्वारा माता-पिता पतन से बचते हैं। उत्तम सन्तान माता-पिता को गिरावट से बचानेवाली होती है।

(५) पुत्र को "सन्तान" भी कहते हैं। इसकी धातु है **तनु विस्तारे**। सन्तान माता-पिता के कुल का विस्तार करनेवाली होती है।

सन्तान—तीन चक्र रूप में—वेद

अथर्व वेद के निम्न मंत्र में सन्तान तीन प्रकार की कही गयी है—

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः ।
क्वैकं चक्रं वामासीत् क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥

कांड १४, सू० १, मंत्र १४,

मंत्र का भावार्थ है कि तीन पहिये वाले रथ के समान उत्तम पुरोहित तीन चक्र वाली सन्तान को खोजते हुए कहाँ ठहरे हैं।

तीन चक्र वाली सन्तान से क्या अभिप्रेत है ? जब पति-पत्नी बिना किसी पूर्व निश्चय के केवल शारीरिक वासना की पूर्ति के लिए मिलते हैं तब उसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न सन्तान "एकचक्र" है। आज के विज्ञान की भाषा में यह "बायोलॉजिक फिनॉमिना" है। जब पति-पत्नी एक-दूसरे के गुणों का अनुशीलन करते हुए मानसिक शक्ति के आधार पर सन्तान प्रसव करते हैं, वह "द्विचक्र" सन्तान है। इसमें शरीर धर्म के साथ मानसधर्म का भी सहयोग होता है। इसे "इंटलेक्चुएल फिनॉमिना" कहा जाता हैं। जब दम्पति इन दोनों भावनाओं से ऊँचा उठकर लोक कल्याण और आध्यात्मिक दृष्टि से सन्तान उत्पन्न करते हैं, वह "त्रिचक्र" सन्तान है इसे "स्पिरिच्युएल फिनॉमिना" अथवा "प्रूडंशियल फिनॉमिना" कहा जाता है। क्या इस प्रकार की "द्विचक्र" और "त्रिचक्र" सन्तान द्वारा मानव के संसार में विजयशील होने में कोई सन्देह रह सकता है ? ऐसी सन्तान के सम्बन्ध में ही नीतिकार कहते हैं :—

(१) पुण्य तीर्थे कृतं येन तपः क्वापि सुदुष्करम् ।
तस्य पुत्रो भवेत् वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥

किसी पवित्र स्थान पर जिस माता-पिता ने कठोर तप किया है, उसका पुत्र आज्ञाकारी, गुणयुक्त, धर्मात्मा और बुद्धिमान् होगा।

(२) विद्यावान् नीतिमान् वाग्मी सदाचारो महामतिः ।
विधेयः सुभगः पुत्रो यस्य तेन जितं जगत् ॥

जिसका पुत्र विद्यायुक्त, नीतिपालक, उत्तम वाणी वाला, सदाचारी, उत्तम बुद्धि युक्त हो—ऐसे माता-पिता निश्चय ही जगत् को जीत लेते हैं।

याज्ञवल्क्य ऋषि ने "पुत्र द्वारा ही मनुष्य लोक जीतने"—अर्थात् उत्तम मनुष्य बनने का साधन सन्तान को बताकर गृहस्थी के लिए एक अमूल्य शिक्षा का निर्देश किया है। माता-पिता यदि अपने उत्तराधिकारी के रूप में अपने से अधिक श्रेष्ठ सन्तान छोड़ जाते हैं, तब निश्चय ही, वह अपने गृहस्थ जीवन को सफल कर जाते हैं। इसे ही "योग्य माता-पिता की योग्यतर सन्तान" कहा जाता है। क्या राम पुत्र के कारण दशरथ और कौशल्या अमर नहीं हो गये ? क्या कृष्ण सदृश सन्तान ने अपने माता-पिता वसुदेव और देवकी को शाश्वत काल के लिए विख्यात नहीं कर दिया ? याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि गृहस्थी का विजय-पथ यही है "नान्येन कर्मणा"—अन्य किसी कर्म से नहीं।

(२) पितृलोक—विजय का साधन कर्म

याज्ञवल्क्य ऋषि अपनी पत्नी कात्यायनी को दूसरे लोक और उसके विजय

का उपाय इस प्रकार बताते हैं—

"कर्मणा पितृलोकः"

पितृलोक पर विजय पताका फहराने का उपाय "कर्म" ही ह । **पितर किसे कहते हैं ?** यह शब्द "पा पालने" धातु से बनता है, अर्थात् पालक ही पिता व पितर है । पितर वह है जो समाज और राष्ट्र की रक्षा के लिए उत्तम परम्पराओं और मार्गों का निर्देशक, रक्षक, और पालक हैं । पितर केवल आयु से नहीं, किन्तु ज्ञान, विद्या, अनुभव इत्यादि गुणों से आभूषित होने चाहिए । नीतिकार कहते हैं—

न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
शास्त्रवित् सत्यवादी च पितरोऽपि विमुच्यते ॥

पांच गुणों से युक्त पितर भी मोक्ष पद को प्राप्त करता है—(१) जिसने न्याय पूर्वक धन कमाया है (२) जो सदा तत्त्व ज्ञान—ब्रह्म, जीव, प्रकृति—इन तीनों के मूल ज्ञान की प्राप्ति में संलग्न है (३) उत्तम, धर्मात्मा, विद्वान्, उपदेष्टा व्यक्तियों का समुचित आदर करनेवाला है (४) वेदों और सच्छास्त्रों को जानने वाला है (५) और सत्य के अनुसार जीवन-यापन करनेवाला है । फिर कहा—

(२) सत्यं तपो ज्ञानमहिंसता च विद्वत्प्रणामं च सुशीलता च ।
एतानि यो धारयते स पिता सदा हि शोभते गुणकर्मणा ॥

सत्य, तप, ज्ञान, अहिंसा का पालन, विद्वानों के प्रति विनम्र और सुशील स्वभाव—यह छः गुण जो धारण करता है, वही पितर है और वह सदा अपने गुण, कर्म से शोभा को प्राप्त करता है । शौनक नीतिसार में कहा गया है—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्मो न वै यत्र च नास्ति सत्यम्, सत्यं न तत् यत् छलनानुविद्धम् ॥

वह सभा, वस्तुतः, सभा नहीं है जिसमें वृद्ध (पितर) नहीं हैं, और वृद्ध (पितर) वे नहीं हैं जो सभा में धर्मानुकूल नहीं बोलते, और वह धर्म नहीं है जो सत्य के अनुकूल नहीं है और वह सत्य नहीं है जिसमें छल-कपट का मिश्रण हो ।

इस प्रकार "पितर" की कितनी सार्थक और गम्भीर व्याख्या इन उपर्युक्त नीति वचनों में की गयी है ।

कर्म के रूप—(१) जनसेवा

पर ये पितर किस प्रकार संसार में विजयी हो सकते हैं ? याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं—"कर्मणा" सदा कर्मशील रहते हुए । पितर सदा निःस्वार्थ जनसेवा के कर्म करते हुए ही अपने को सफल कर सकते हैं । इस प्रकार जनसेवा में पूर्णतः समर्पित महापुरुषों के कई उदाहरण इतिहास में मिलते हैं । इक्ष्वाकु वंश में राजा दलीप के पुत्र भगीरथ हुए । उस समय देश में वृष्टि न होने से अकाल पड़ गया । जल का घोर अभाव हो गया । भगीरथ ने निश्चय किया "जब तक मैं स्वयं जनता के इस घोर कष्ट को दूर करने के लिए अग्रसर नहीं होऊँगा तब तक जनता में जागृति नहीं आयेगी ।" उन्होंने हिमालय पर तपस्या कर वहाँ से जलधारा को भूमि पर लाने का संकल्प किया । महाभारत में लिखा है—

स तु तत्र नरश्रेष्ठस्तपो घोरं समाश्रितः ।
फलमूलाम्बु संभक्षः सहस्र परिवत्सरः ।।

तीर्थयात्रा पर्व, १०८। १३

हिमालय पर कई वर्ष तक केवल फल, कन्दमूल इत्यादि और जल ग्रहण करते हुए भगीरथ ने घोर तपस्या की । हाथ में फावड़ा, हथौड़ा, कुल्हाड़ी इत्यादि हथियारों को ले जब राजा ने स्वयं हिमालय पर व्यर्थ बह रहे जल को नदी के रूप में भूमि पर लाने का उद्योग प्रारम्भ किया, तब जनता ने भी पूरा साथ दिया । यह जल राशि व्यवस्थित रूप से भूतल पर आयी । राजा भगीरथ द्वारा लाए जाने के कारण इसका नाम "भागीरथी" पड़ा जिसे गंगा भी कहा जाता है । यदि राजा भगीरथ स्वयं घोर तपस्या और श्रम न करते तो क्या जनता उनका साथ देती और क्या यह संकट कभी दूर हो सकता ? राजा भगीरथ ने उत्तम पितर का आदर्श उपस्थित किया ।

(२) कथनी से करनी ऊँची

पितर का दूसरा विशिष्ट गुण अपने क्रियात्मक जीवन द्वारा मार्गदर्शन का होना चाहिए । कथनी की अपेक्षा करनी अधिक प्रेरणादायी और स्फूर्तिप्रद होती है । जिस समय महात्मा मुंशीराम जी (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द जी) ने ऋषि दयानन्द की शिक्षा पद्धति के अनुसार नगरों से दूर एकान्त जगत् में, गंगा तट पर शिवालक की पर्वतमाला के नीचे गुरुकुल स्थापित करने का निश्चय किया, तब प्रश्न पैदा हुआ "धन कहां से आएगा ?" महात्मा जी ने संकल्प किया कि "जब तक ३० हजार रु० जनता से मांगकर इकट्ठा नहीं कर लूँगा, तब तक घर वापस नहीं आऊँगा ।" भिक्षा की झोली लेकर निकल पड़े । इससे पहले उन्होंने स्वयं अपनी जालन्धर में शानदार चलती वकालत को लात मार दी । इतना ही नहीं, अपनी बढ़िया कोठी, अपना प्रेस और "सद्धर्मप्रचारक" पत्र (जिसे उन्होंने एक रात में ही अगले दिन से उर्दू से हिन्दी में कर दिया था, कई हजार का घाटा उठाकर भी) सर्वस्व गुरुकुल को दान दे दिया । जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि कौन माता-पिता अपने लाड़ले बच्चों को जंगल में फकीर बनाकर भेजेंगे—तब सबसे पहले उन्होंने ही अपने दोनों पुत्रों को गुरुकुल में प्रविष्ट कर दिया । फिर, प्रश्न उठा, वहां जंगल में कौन निरन्तर रह कर संस्था का संचालन करेगा ? महात्मा जी ने वकालत छोड़ स्वयं आजीवन गुरुकुल में ही रहने और उसका संचालन करने का व्रत लिया । इस प्रकार महात्मा मुंशीराम जी ने एक आदर्श पितर का उदाहरण उपस्थित किया । इसी का यह परिणाम था कि उनके जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर कई विद्वानों और कार्यकर्त्ताओं ने अपनी सेवाएं प्रस्तुत कीं । महात्मा जी के इस क्रियात्मक जीवन से कुछ ही वर्षों में गुरुकुल को ऐसी ख्याति प्राप्त हुई कि विदेशी सरकार आतंकित हो गयी पर देशभक्त भारतीय इसे भारत के पुनरुद्धार का पावन स्रोत समझने लगे । देश-विदेश से प्रमुख पुरुष और सरकारी अधिकारी इस संस्था को देखने आते थे ।

(३) निर्भयता, साहस, अन्याय का विरोध

पितर में तीसरा गुण निर्भयता, साहस, पाप और अन्याय का विरोध और पुण्य-धर्म-न्याय की पुष्टि होना चाहिए । महर्षि दयानन्द ने "स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश" में मनुष्य का कितना भावग्राही और गम्भीर अर्थपूर्ण लक्षण किया है—

"मनुष्य" उसी को कहना, कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख व दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे।

इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ, निर्बल, गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और (अधर्मी) चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हों, तथापि उनका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे।"

महाभारत काल में यदि भरी सभा में अपमानित और धर्षित एकवस्त्रा द्रौपदी के तिरस्कार और लाञ्छना को भीष्म पितामह, द्रोण, कृप आदि आचार्य और राजा धृतराष्ट्र, सब चुपचाप न देख इस अन्याय-अधर्म की कड़ी भर्त्सना और सक्रिय विरोध करते और पांडव भी नपुंसक बन मौन धारण कर न बैठे रहते—तो भारत का इतिहास ही अन्य रूप में होता। तत्कालीन पितरों के इस अक्षम्य अपराध का ही परिणाम महाभारत का संहारक युद्ध और देश का निरन्तर अधःपतन हुआ।

यजुर्वेद ८।१३ मंत्र में प्रभु से पहले देव, फिर मनुष्य और तीसरे स्थान पर पितरों को पापरहित करने की प्रार्थना "ओ३म्। पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि" की गयी है। आर्याभिविनय में इस मंत्र का अर्थ करते हुए "पितर" का अर्थ ऋषि दयानन्द "परमविद्यायुक्त जन" करते हैं अर्थात् ऐसे पितरों को परमात्मा पाप से अलग रखने वाला हो और यह पितर जनता को पाप से पृथक् करनेवाले हों।

(३) देवलोक—विजय का साधन विद्या

याज्ञवल्क्य ऋषि तीसरे लोक का उपदेश देते हुए अपनी पत्नी कात्यायनी से कहते हैं—

विद्यया देवलोकः।
देवलोकः वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्मात् विद्यां प्रशंसन्ति ॥

विद्या से देवलोक प्राप्त होता है। देवलोक शेष दोनों लोकों से श्रेष्ठ है, इसलिए इसके साधन विद्या की प्रशंसा की जाती है।

विद्या का क्या अर्थ है? मुण्डक उपनिषद् के आरम्भ में ही इसकी व्याख्या की गयी है। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं वाला शौनक एक जिज्ञासु था। वह अंगिरा ऋषि की सेवा में गया और उसने नम्रतापूर्वक पूछा कि किसके जानने से सब कुछ जाना जा सकता है। अंगिरा ऋषि ने शौनक से कहा—

'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च"

ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि दो विद्याओं को जानना चाहिए। पहली विद्या के अन्तर्गत चारों वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इत्यादि १० अंग हैं। परा विद्या क्या है, ऋषि कहते हैं—

"परा यया तद् अक्षरमधिगम्यते।"

जिस विद्या से ब्रह्म का ज्ञान हो, वह परा विद्या है। इसका भावार्थ यही है कि ऐहिक और पारलौकिक—दोनों प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना विद्या कहाता है।

ऋषि दयानन्द ने "सत्यार्थ प्रकाश" के पंचम समुल्लास में मनु द्वारा किये गए धर्म के १० लक्षणों के अन्तर्गत "विद्या" की व्याख्या करते हुए कहा है—

"पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त यथार्थ सत्य और उनसे यथायोग्य उपकार लेना विद्या और इसके विपरीत अविद्या है।"

ऋषि के इस लक्षण में उपर्युक्त मुण्डक उपनिषद् के ऋषि अंगिरा द्वारा निर्दिष्ट "अपरा" और "परा"—विद्या के दोनों प्रकार के अंगों का वर्णन समाविष्ट है।

विद्या और अविद्या

"विद्या" और "अविद्या"—दोनों शब्दों का प्रयोग यजुर्वेद अध्याय ४०, मंत्र १४ में और इसी अध्याय पर आधारित ईशोपनिषद् के भी मंत्र १४ में निम्न प्रकार से है—'

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद् वेदोभय ँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

ऋषि दयानन्द यजुर्वेद भाष्य में अविद्या का शब्दार्थ "शरीरादि जड़ पदार्थ समूह से किये पुरुषार्थ से (मृत्युं) मरण दुःख के भय को उल्लंघ कर (विद्यया) आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग में जो धर्म उससे उत्पन्न हुए यथार्थ दर्शन रूप विद्या से (अमृतम्) नाश रहित अपने स्वरूप वा परमात्मा को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

इस मंत्र के भावार्थ में ऋषि वेद भाष्य में "विद्या" और "अविद्या" की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—जो मनुष्य विद्या और अविद्या को इनके स्वरूप से जान कर इनके जड़-चेतन साधक है—ऐसा निश्चय कर सब शरीरादि जड़ पदार्थ और चेतन आत्मा को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए साथ ही प्रयोग करते हैं वे लौकिक दुःख को छोड़ परमार्थ के सुख को प्राप्त होते हैं। जो जड़ प्रकृति आदि कारण व शरीरादि कार्य न हो तो परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति और जीव कर्म, उपासना और ज्ञान के करने को कैसे समर्थ हो। इससे न केवल जड़ न केवल चेतन अथवा न केवल कर्म से तथा न केवल ज्ञान से कोई धर्मादि पदार्थों की सिद्धि करने में समर्थ होता है।"

"सत्यार्थ प्रकाश" के नवम समुल्लास के आरम्भ में यजुर्वेद के इसी मंत्र को उद्धृत करते हुए ऋषि दयानन्द "विद्या" "अविद्या" की व्याख्या में कहते हैं—

"अविद्या" अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके "विद्या" अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।" इस सिद्धान्त की पुष्टि ऋषि दयानन्द "सत्यार्थ प्रकाश" के इसी समुल्लास में इस मंत्र की व्याख्या के प्रसंग में निम्न शब्दों में करते हैं—

"इसी से मंत्र में कहा है कि विना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु दुःख से पार कोई नहीं होता। अर्थात् पवित्र कर्म, पवित्रोपासना और पवित्र-ज्ञान ही से मुक्ति (होती है)· ····।"

महाभारत १२-३००-२ में अविद्या का अर्थ "अव्यक्त" और "विद्या" का

अर्थ "पुरुष" कहा गया है—

अविद्यामाहुरव्यक्तं सर्ग प्रलय धर्मी वै ।
सर्ग प्रलय निर्युक्तां विद्यां वै पर्चविंशतः ।।

रचना और विनाश रूप यह अव्यक्त जगत् "अविद्या" है और रचना विनाश से रहित "विद्या" है जो २५वां तत्व अर्थात् जीवात्मा है ।

कणाद ऋषि कृत वैशेषिक दर्शन में नवम अध्याय आह्निक दो के सूत्र १० और ११ में "अविद्या" का कारण इन्द्रिय दोष और संस्कार दोष बताते हुए उसे "दुष्ट" अर्थात् "विपरीत" ज्ञान कहा गया है । अगले अर्थात् सूत्र १२ में विद्या का लक्षण किया गया है—

अदष्टं विद्या ।

सर्वथा दोष रहित ज्ञान का नाम विद्या है ।

इस प्रकार हमने "विद्या" के स्वरूप के सम्बन्ध में वेदों और शास्त्रों के प्रमाण उपस्थित किये । स्पष्ट है, विद्या वही है जिससे लौकिक और पारलौकिक—दोनों में पूर्ण समन्वय स्थापित हो । जिस ज्ञान से ब्रह्म-सान्निध्य अर्थात्—मोक्ष प्राप्ति न हो, वह अधूरा है । इसी प्रकार की विद्या से देव लोक की प्राप्ति होती है । ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी कात्यायनी को उपदेश देते हुए यही कहा ।

देव-चेतन और जड़

अब "देव" शब्द पर विचार करना चाहिए । "देवलोक" का अभिप्राय किसी विशिष्ट प्रकार के स्थान का नहीं है किन्तु जीवन के उस स्तर का नाम है जहां मानव-आत्मा दिव्य गुण युक्त हो जाता है ।

वैदिक साहित्य में देव दो प्रकार के माने गये हैं—चेतन और जड़ । शतपथ १४।६।६।३-७ के अनुसार ३३ देव हैं—आठ वसु (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, प्रकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र—सृष्टि के निवास स्थान होने से), ग्यारह रुद्र (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और जीवात्मा) ये रुद्र इसलिए कहे जाते हैं कि जब शरीर छोड़ते हैं तब रोदन कराने वाले होते हैं, बारह आदित्य (संवत्सर के बारह महीने सबकी आयु को लेते जाते हैं) इन्द्र (विद्युत् ऐश्वर्य का हेतु) और प्रजापति (यज्ञ जिससे वायु, वृष्टि, जल, ओषधि की शुद्धि, विद्वानों का सत्कार और नाना प्रकार की शिल्प विद्या से प्रजा का पालन होता है)—यह ३३ देव हैं । इनमें ३२ जड़ पदार्थ हैं और एक चेतन आत्मा है । परमात्मा ३४वां देव होने से "महादेव" कहा जाता है, क्योंकि वह इन सबका स्वामी और सबसे महान् है । दूसरे शब्दों में कहें तो शतपथ ब्राह्मण की इस व्याख्या के अनुसार ३२ जड़ देव और दो चेतन देव—जीवात्मा और परमात्मा हैं ।

तैत्तिरीय उपनिषद् के शिक्षाध्याय के अन्तर्गत एकादश अनुवाद के श्लोक दो के अनुसार चार देव हैं—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव ।

माता, पिता, आचार्य और अतिथि—ये चारों देव हैं। शतपथ ब्राह्मण ३।७।३।१० के अनुसार "विद्वांसो हि देवा"—जो विद्वान् हैं वे देव हैं। ऋषि दयानन्द "सत्यार्थ प्रकाश" के चतुर्थ समुल्लास में "पितृयज्ञ" की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

जो सागोपांग चार वेदों के जानने वाले हों, उनका नाम ब्रह्मा, जो उनसे न्यून (पढ़े) हों उनका भी नाम देव अर्थात् विद्वान् है।"

निरुक्त अ० ७, खं० १५ में देव का अर्थ इस प्रकार किया गया है—

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा ।।

अपने ग्रन्थ "ऋग् वेदादि भाष्य भूमिका" के अन्तर्गत "वेदविषय विचार" प्रकरण में निरुक्त के उपर्युक्त वाक्य की व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं—

"दान देने से देव नाम पड़ता है, और दान कहते हैं अपनी चीज दूसरे के अर्थ देना (अर्थात् किसी वस्तु के विषय में अपने स्वामीपन को छोड़ते हुए दूसरे के स्वामीपन को उत्पन्न करना)। "दीपन" कहते हैं प्रकाश करने को। "द्योतन" कहते हैं सत्योपदेश को। इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रखे हैं। तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देने वाले होने से देव कहाते हैं। (दीपन) अर्थात् सब मूर्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्यादि लोकों का नाम देव है (द्योतन) तथा माता, पिता, आचार्य और अतिथि भी पालन, विद्या और सत्योपदशादि करने से देव कहाते हैं। वैसे ही सूर्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करने वाला है, सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्ट देव है, अन्य कोई नहीं।"

ऋषिवर के इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि देव शब्द से परमात्मा, विद्वान्, माता, पिता आचार्य, अतिथि और जड़ पदार्थों में प्रकाश देनेवाले सूर्यादि का ग्रहण होता है। देव शब्द से मन इन्द्रियों का भी ग्रहण होता है।

"नैनद्देवा, आप्नुवन्पूर्वमर्शत्" यजु० ४०। ४

यहां "देव" शब्द का अभिप्राय वाक्, चक्षु, नासिका, त्वक्, श्रोत्र और छटा मन—इनसे है।

इन सब प्रकरणों का निचोड़ यही है कि यहां उपनिषद् वाक्य "विद्यया देव लोकः" में देव का अभिप्राय प्रकाशमान जड़ पदार्थों से नहीं किन्तु परमात्मा के दिव्य गुणों के अनुसार आत्मा को विद्या के द्वारा—जिसकी हम इसी सन्दर्भ में व्याख्या कर चुके हैं—उस स्तर तक ले जाना है जहां वह विद्वानों का अनुगमन करता हुआ दैवी गुणों से देदीप्यमान हो सके।

देवत्व के गुण

यह दैवी गुण कौन से हैं—इसका उत्तर गीता के अध्याय १६ के पहले तीन श्लोकों में इस प्रकार दिया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्व लोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ।।

श्री कृष्ण ने इस "दैवी सम्पत्ति" के अन्तर्गत इन २६ गुणों का उल्लेख किया है—(१) अभय (२) चित्त की शुद्धि (३) ज्ञान योग की प्राप्ति का उद्योग (४) दान (५) इन्द्रियों का संयम (६) यज्ञ (७) स्वाध्याय—वेद—शास्त्रों का पठन पाठन (८) तप (९) आर्जव-सरलता (१०) अहिंसा (११) सत्य (१२) अक्रोध (१३) त्याग (१४) शान्ति (१५) अपैशुन—चुगली न करना (१६) प्राणियों पर दया (१७) विषयों में लोलुप न होना (१८) मृदुता—स्वभाव में कोमलता (१९) लज्जा (२०) चंचलता का त्याग (२१) तेजस्विता (२२) क्षमा (२३) धैर्य (२४) शौच—बाहर-भीतर की पवित्रता (२५) अद्रोह (२६) मिथ्या अभिमान न होना ।

जिन दुर्गुणों से मनुष्य को बचना चाहिए, जिन्हें श्रीकृष्ण "आसुरी सम्पत्ति" कहते हैं, इसी प्रकरण में, वह छः हैं (१) दम्भ—छल-कपट (२) दर्प—घमंड (३) अभिमान (४) क्रोध (५) कठोरता और (६) अज्ञान—ज्ञान की प्राप्ति न करना । (१६।४) श्री कृष्ण कहते हैं—

"दैवी संपद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता" १६ । ५

दैवी संपद् दुःखों से छुटकारा देनेवाली और आसुरी संपद् बन्धन में डालने वाली होती है ।

इस देवलोक की प्राप्ति की सीढ़ियां क्या हैं, इस सम्बन्ध में एक रोचक आख्यान बृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम अध्याय, दूसरे ब्राह्मण में आता है—

प्रजापति ऋषि द्वारा "द" अक्षर से "देवत्व" की दिशा का संकेत

प्रजापति पिता की तीन प्रकार की सन्तान थीं देव, मनुष्य, असुर । उन तीनों ने अपने पिता के निकट ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करने के पश्चात् प्रार्थना की कि उपदेश दीजिए । प्रजापति ने देवों को "द" अक्षर का उपदेश दिया और इसका अर्थ बताया "दाम्यत" अर्थात् मन और इन्द्रियों पर दमन करो । प्रजापति के पूछने पर देवों ने कहा "हम समझ गये ।"

अब प्रजापति के पास "मनुष्य" पहुँचे । उनकी प्रार्थना पर भी ऋषि ने 'द' अक्षर का उपदेश दिया । इसका अर्थ बताया "दत्त"—दान दो । मनुष्यों ने ऋषि के पूछने पर कहा "भगवन् ! हम समझ गये ।"

अब प्रजापति के पास "असुर" पहुँचे । उन्होंने भी उपदेश की प्रार्थना की । ऋषि ने "द" अक्षर का ही उपदेश दिया । ऋषि द्वारा पूछे जाने पर असुरों ने कहा "दयध्वं" अर्थात् दया करो—यह हम समझ गये ।

[१] द—दया का स्वरूप

ऋषि प्रजापति ने देव, मनुष्य, असुर अपनी तीनों प्रकार की सन्तान को आकाश में चमक रही और "द-द-द" सदृश विद्युत् कड़क की ध्वनि की ओर इंगित

करते हुए कहा कि यह तुम तीनों को उपदेश दे रही है "दाम्यत", "दत्त", "दयध्वम्" दमन करो, दान करो और दया करो। आत्मा में देव लोक की स्थिति का विकास करने के लिए पहले मानव को अपने अन्तःकरण में से "दया" की भावना के उत्थापन और पल्लवन द्वारा आसुरी वृत्तियों का निष्कासन करना चाहिए। आसुरी वृत्ति का प्रकाशन प्राणिमात्र के प्रति दया-करुणा के अभाव और हिंसा-प्रतिशोध, कठोरता के व्यवहार के रूप में होता है।

[२] द—दान का स्वरूप

मनुष्यों को ऋषि ने "दान" द्वारा अपने हृदय को विशाल-उदार बनाने का उपदेश दिया। "दान" का अभिप्राय "सर्वहित" के लिए "स्वहित" का त्याग करना। कुछ धन राशि दे देने मात्र को ही, प्रायः, दान समझा जाता है। धन का दान, यद्यपि, प्रशंसनीय है पर यह सर्वथा निम्न स्तर का है। देवत्व की ओर अग्रसर होने के लिए, सन्त विनोबा जी के शब्दों में, "जीवनदान" की भावना को जागृत करना होगा। सन्त विनोबा ने "श्रमदान" "विचारदान" "भूदान" "ग्रामदान" इत्यादि से सर्वोत्कृष्ट "जीवनदान" को बताया जिसमें जीवन की पूर्णाहुति समूचे विश्वहित में अर्पित की जाती है। सन्ध्या के मंत्र में "महः पुनातु हृदये" प्रार्थना द्वारा उपासक यही कामना करता है कि "प्रभु की महानता मेरे हृदय को पवित्र करने वाली हो।" हृदय जितना महान्, दानशील होगा, उतना ही अधिक पवित्र होगा।

[३] द—दमन का स्वरूप

देवों अर्थात् विद्वानों को ऋषि प्रजापति ने दमन, आत्म संयम, करने का उपदेश दिया। विद्वानों की सबसे बड़ी दुर्बलता संयम का अभाव होती है। साक्षर व्यक्ति ही जब संयमहीन हो जाता है, वह "राक्षस" बन जाता है। दोनों शब्दों में अक्षर-समानता होते हुए भी भेद केवल उनके आगे-पीछे होने में है। संयम केवल बाह्य इन्द्रियों का नहीं, किन्तु अन्तःकरण चतुष्टय द्वारा आत्मा का भी। भीष्म पितामह ने शान्तिपर्व में युधिष्ठिर को इस आत्म संयम की नदी में स्नान करने का कितना प्रभावी उपदेश दिया है—

आत्मा नदी संयम पुण्यतीर्था, सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पांडुपुत्र, न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा॥

हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! यह आत्मा नदी के सदृश निरन्तर विभिन्न योनियों में प्रवाहशील है, इसका पवित्र घाट रूप संयम है, इसमें जल सत्यरूप है, किनारे शील, श्रेष्ठ आचार हैं, दयारूपी लहरें हैं। इस नदी में स्नान करो, केवल जल द्वारा अन्तरात्मा कभी शुद्ध नहीं हो सकता।

देवत्व को प्राप्त करने के यह तीनों सोपान हैं।

देवों की मैत्री की कामना—वेद

यजुर्वेद २५।१५ निम्न मंत्र में प्रजाजन प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि—

ओ३म् । देवानां भद्रा सुमति र्ऋजूयतां
देवाना ७ रातिरभि नो निवर्त्तताम् ।
देवाना ७ सख्य मुपसेदिमा वयं
देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥

हे प्रभो ! देवों की बुद्धि कल्याण करने वाली हो, उनकी बुद्धि कठिन विषयों को सरल करने वाली हो, विद्वानों की विद्या आदि हम लोगों को सब ओर से पूर्ण करने वाली हो, हमें सदा विद्वानों की मित्रता अच्छी प्रकार से प्राप्त होवे, देव हमें ऐसी शिक्षा दें जिससे हम पूर्ण आयुका उत्तमता से भोग कर सकें।

इसी वेद के इसी अध्याय के २१वें मंत्र में "देवहितं यदायुः" —इन शब्दों से प्रार्थना की गयी है कि "हमारी जितनी भी आयु है वह देवों के बताये हितकारी मार्ग पर चलने वाली हो।"

मनुष्य, पितर और देवों की वसीयत

प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तराधिकारी के लिए सर्वोत्तम पदार्थ छोड़कर जाना चाहता है। इसे ही "वसीयत" कहा जाता है। गृहस्थी अपनी सन्तानों के लिए धन ऐश्वर्य-सम्पत्ति आदि के रूप में वसीयत कर जाते हैं। ऋषि दयानन्द ने वसीयत की थी कि उनके पास जो भी पुस्तक, वस्त्र, द्रव्य इत्यादि है, उस सबका उपयोग "देश-देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए किया जाए।"

इस उपनिषद् प्रसंग में याज्ञवल्क्य कात्यायनी के प्रति इन तीनों लोकों के स्वरूप और उनकी विजय के साधनों का समापन करते हुए कहते हैं कि जब मनुष्य, पितर और देव इस संसार से प्रयाण करने को उद्यत होते हैं, तब वे अपने उत्तराधिकारी को अपने समीप बुलाकर यह तीन वाक्य कहते हैं—

हे वत्स ! अहं ब्रह्म, अहं यज्ञः अहं लोकः—मैं अपनी समस्त आयु (ब्रह्म) महान् बनने, (यज्ञः) यज्ञ के सदृश परोपकारी बनने और (लोकः) यशस्वी बनने के लिए प्रयत्नशील रहा हूँ। संभव है, इसमें मैं पूर्ण सफल न हो सका होऊं। मैं तुम से आशा करता हूँ कि मेरी न्यूनताओं को पूरा करते हुए—

हे वत्स ! त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञः त्वं लोकः।

हे प्रिय ! तुम अपने जीवन में (ब्रह्म) महान् बनो, तुम अपने जीवन में (यज्ञ) यज्ञ के सदृश परोपकारशील बनो और तुम (लोकः) इस संसार में यशस्वी बनो।

इस प्रकार की अविच्छिन्न परम्परा से याज्ञवल्क्य ऋषि निर्दिष्ट तीनों लोकों को जब तीनों उपर्युक्त उपायों से विजित किया जाएगा तब उत्तम मनुष्य, उत्तम पितर और देव बनकर मृत्यु पर विजय प्राप्त करने में कोई संदेह नहीं रहेगा।

——

महाभारत का एक आख्यान

राजसूय यज्ञ में सोने के आधे शरीर वाले नेवले ने जब युधिष्ठिर को शंख दिया : शंख क्यों नहीं ध्वनि करता ?

खांडव वन को भस्मसात् कर श्री कृष्ण की प्रेरणा से पांडवों ने इन्द्रप्रस्थ साम्राज्य स्थापित किया। राजधानी का नाम भी इन्द्रप्रस्थ था। उस समय भारत छोटे-छोटे राज्यों के रूप में शतधा विच्छिन्न था। बलिष्ठ केन्द्र का सर्वथा अभाव था। महाभारत, वन पर्व के अनुसार—

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट् शब्दो हि कृच्छ्रभाक् ॥

अपना-अपना हित चाहने वाले घर-घर में राजा बैठे हुए थे। कोई शक्ति-सम्पन्न साम्राज्य नहीं था। सम्राट् शब्द ही उस समय प्रायः लुप्त हो गया था। श्री कृष्ण ने इस प्रकार अनेकशः खण्डित और विभक्त भारत को एक दृढ़ केन्द्र के नीचे संगठित और आबद्ध करने के लिए युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने का परामर्श दिया। चारों भाइयों के नेतृत्व में पाँडव सेनाएं न केवल भारत किन्तु समस्त पृथ्वी पर इन्द्रप्रस्थ को सशक्त केन्द्र बना "आर्य साम्राज्य" का ध्वज फहराने निकल पड़ीं। जिस राजा ने इस केन्द्रीय शक्ति को चुनौती दी, पांडव सेना ने युद्ध किया, विजय प्राप्त कर उस देश के राजा को राजसूय यज्ञ में आमंत्रित किया। यह समूचा प्रारम्भिक कार्य समाप्त हो गया। अब राजसूय यज्ञ का उपक्रम प्रारम्भ हुआ। सबसे बड़े भाई होने के नाते युधिष्ठिर तो राज सिंहासन पर विराजे, शेष चारों भाइयों ने इस महायज्ञ के विभिन्न अंगों को संभाला।

श्री कृष्ण द्वारा विद्वानों का चरण-प्रक्षालन

श्री कृष्ण तो इस विशाल अनुष्ठान के सूत्रधार थे। उन्हें क्या पद दिया जाए यह प्रश्न उपस्थित हुआ। युधिष्ठिर असमंजस में पड़ गए। आयु, अनुभव और ज्ञान में सर्वोत्कृष्ट भीष्म पितामह थे। पर युधिष्ठिर के लिए दोनों ही एक सदृश पूजनीय थे। दोनों ही इस अद्वितीय समारोह के देदीप्यमान नक्षत्र थे। दोनों के लिए समुचित एक समान आसन क्या हो—युधिष्ठिर कुछ स्थिर न कर सके। शंकित हृदय और जिज्ञासा की मुद्रा के साथ पहले भीष्म पितामह के चरणों में उपस्थित हुए। पांडव और कौरव दोनों कुलों के एकमात्र पितामह तो वही थे। राजसूय यज्ञ के समूचे व्यवस्था-व्यौरे से उन्हें अवगत कराया। कुछ देर बाद धर्मराज जब रुके और हिच-

किचाये, पितामह की तीक्ष्ण बुद्धि उनकी अन्तर्वेदना को तत्काल ताड़ गयी। स्वतः ही युधिष्ठिर को परामर्श दिया कि—

"जिस प्रकार सब नक्षत्रों में सूर्य अपने तेज और उष्णता से दीप्तिमान् होता है इसी प्रकार श्री कृष्ण अपने तेज और पराक्रम से समस्त राजन्य वर्ग में प्रकाशयुक्त हैं। जिस प्रकार सूर्य हमें प्रकाश देता है, वायु हमें आल्हाद देता है, इसी प्रकार श्री कृष्ण हम सबके मध्य हैं। (महाभारत, वन पर्व)

भीष्म पितामह के इस स्पष्ट और निश्चित वचन से युधिष्ठिर बड़ा आश्वस्त हुआ। उसने निश्चय कर लिया कि इस समूचे आयोजन की प्रमुखता श्री कृष्ण को ही अर्पित की जाए।

उधर, जब पांडव दल में कार्य-विभाजन हो रहा था, तब उसकी भनक कृष्ण के कानों में भी पड़ गयी। युधिष्ठिर अभी अपने भाइयों और अमात्यों से परामर्श कर ही रहे थे कि किस विधि से श्री कृष्ण को यज्ञ के प्रमुख पद पर आसीन किया जाए—वह स्वयं ही धर्मराज के पास पहुँच गए। समुचित अभिवादन और राजसूय यज्ञ सम्बन्धी चर्चा के बाद श्री कृष्ण ने स्वयं ही अपने ऊपर 'जिस सेवा का दायित्व लिया, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

चरण क्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत्।
सर्व लोक समावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम् ॥

(महाभारत, सभापर्व ३५। १०)

"राजसूय यज्ञ में पधारे विद्वानों और ऋषि-मुनियों के चरणों को प्रक्षालित करने का काम मैं करूँगा और इस सेवा का उत्तम फल प्राप्त करना चाहूँगा"— श्री कृष्ण ने कहा।

यज्ञ वेदी पर नेवला

युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ पूर्णा-हुति के साथ समाप्त हो गया। ऋत्विजों को दक्षिणा देने और यजमानों तथा देश-विदेश से समागत अतिथियों को यज्ञ का प्रसाद बाँटने का कार्य समाप्त हो चुका था। यज्ञ वेदी पर युधिष्ठिर सहित पांचों पाण्डव भाई ऋषि व्यासदेव के साथ धर्म चर्चा कर रहे थे। व्यास अब पाण्डवों को इस शुभ यज्ञ की सफलता पर बधाई और आशीर्वाद दे हिमालय की उपत्यका में स्थित अपने आश्रम की ओर यात्रा करने को उद्यत हुए। धर्मराज ऋषि को विदा करने में क्लेश अनुभव कर रहे थे। कुछ दिन अधिक ठहरने के प्रबल आग्रह को ऋषि स्वीकारने में अपनी असमर्थता प्रकट कर रहे थे।

इसी समय युधिष्ठिर ने देखा कि यज्ञ वेदी पर एक नेवला उछल-कूद कर रहा है। वहां यज्ञ सामग्री और प्रसाद के इतस्ततः बिखरे कणों से अपने को लोट-पोट कर रहा है। पर्याप्त समय तक वह ऐसा करता रहा। पाण्डवों और व्यासमुनि का ध्यान, स्वभावतः उधर जब गया तो यह देख सबको आश्चर्य हुआ कि इस छोटे प्राणी का आधा शरीर सोने की तरह चमक रहा है, अवशिष्ट आधा देह सामान्य चमड़ी का है। सबने यह अनुभव कर लिया कि यह नेवला कोई सामान्य जीव नहीं है। फिर, उन्होंने देखा कि वह नेवला मुनि वचनों को ध्यान से सुन रहा था। अब

सहज ही सबको विश्वास हो गया कि यह प्राणी मनुष्य वाणी समझता और बोल भी सकता है। मुनि सहित पाण्डवों को उससे बातचीत करने की उत्सुकता हुई। व्यास मुनि की उपस्थिति में अब युधिष्ठिर और नेवले में इस प्रकार बात-चीत प्रारम्भ हुई।

मेरा आधा शरीर सोने का कैसे ?

युधिष्ठिर—क्या तुम सजमुच नेवला जाति के प्राणी हो या बनावटी वेश में यहां आये हो ?

नेवला—यह प्रश्न मत पूछो। इससे तुम्हें कोई लाभ न होगा।

युधिष्ठिर—अच्छा यह तो बताओ कि तुम्हारा आधा शरीर सोने का कैसे हो गया ?

नेवला—धर्मराज, तुम्हारा यह प्रश्न बिल्कुल ठीक है। इसका उत्तर तुम ध्यान से सुनो।

अकाल पीड़ित भूखे परिवार द्वारा अतिथि सेवा

कुछ वर्ष हुए, कुरुक्षेत्र में भयंकर अकाल पड़ा। एक कृषक परिवार कई दिन से भूखा था। इस परिवार में कृषक और उसकी पत्नी, एक लड़का और उसकी पत्नी—यह चार व्यक्ति थे। किसान बड़ी भागदौड़ करने के बाद किसी खेत-जंगल से कुछ अन्न इकट्ठा करके लाया। पकाने के बाद चारों खाने को बैठे। इसी समय किसी ने द्वार खटखटाया। खोलने पर किसान ने देखा कि तापस वेश में एक अतिथि सामने खड़ा है। किसान ने मुस्कराहट के साथ अतिथि का मधुर वचनों से स्वागत किया। पूछने पर उसने तीव्र आर्त्त स्वर में कहा "गृहपति। मैं कई दिन से भूखा हूँ। कुछ भोजन मिल जाए तो प्राण रक्षा हो जाएगी।" गृहपति ने अतिथि को आसन पर बैठा अंग प्रक्षालन और पीने के लिए जल दिया। अपने हिस्से का भोजन जब वह अतिथि के सम्मुख परोसने लगा, तब पुत्र और पुत्रवधू, दोनों ने विरोध के स्वर में कहा 'आप भूखे रहें और हम बच्चे खा लें, यह कैसे हो सकता है ! पहले हम दोनों को अपने भोजन-अंश द्वारा इस अतिथि की सेवा करने दीजिये।" अब कृषक और उसकी पत्नी—दोनों ने पुत्र और पुत्र वधू को समझाते हुए कहा "माता पिता के जीवित रहते सन्तान भूखी रहे, यह कैसे हो सकता है ? हम दोनों ने तो पर्याप्त आयु तक शरीर के भोग प्राप्त कर लिए हैं, हमारे शरीर जरा-जीर्ण हो चुके हैं, इसलिए संसार से प्रस्थान करने का पहला अधिकार हम दोनों का है।" पर, पुत्र और उसकी भार्या ने निवेदन किया "माता पिता की सेवा करना जब सन्तान का परम कर्त्तव्य है, तब आप हमें इस कर्त्तव्य पालन से क्यों च्युत करते हैं ?" माता-पिता और पुत्र-पुत्र वधू के इस विवाद को अतिथि ध्यानपूर्वक सुनता रहा। अन्ततः, पहले कृषक ने अपना हिस्सा अतिथि के सामने रखा। अतिथि ने कहा "अभी पेट नहीं भरा।" फिर कृषक पत्नी ने। अतिथि ने कहा "मैं अभी भूखा हूँ।" अब पुत्र और पुत्र वधू—दोनों ने बारी बारी से अपना भोजन अतिथि को परोसा। अब किसान परिवार का सारा भोजन समाप्त हो गया। उधर अतिथि ने कहा "अब मैं तृप्त हो गया हूँ। आप सबने मेरा बड़ा सत्कार किया। मैं जाता हूँ। प्रभु आप सब का कल्याण करे।"

नेवले ने धर्म राज से कहा "उस अतिथि के चले जाने के पश्चात् मैं अपने बिल में से अचानक बाहर आया। इस स्थान पर बिखरे कुछ अन्न कणों को मुख में डालने लगा। वे अन्न कण एक ओर अत्यन्त मधुर और दूसरी ओर उनके स्पर्श मात्र से मेरी त्वचा स्वर्णमय हो गयी। अन्न कण थोड़े ही थे। इसलिए मेरे शरीर का आधा भाग ही स्वर्णमय बन सका।

युधिष्ठिर का यज्ञ अहंकार की प्रेरणा से

व्यास मुनि सहित पाँचों पाण्डव बड़ी तन्मयता से नेवले की कहानी सुन रहे थे। कुछ रुक कर नेवले ने कहा—धर्मराज ! मैंने तुम्हारे इस राजसूय यज्ञ की बड़ी चर्चा सुनी थी। मैं बड़ी उत्सुकता के साथ तुम्हारे इस यज्ञ में वेदी के इधर-उधर बिखरे सुगन्धित सामग्री कणों से अपने अवशिष्ट शरीर को स्वर्णमय करने के लिए आया था। मेरा विश्वास था कि तुम्हारा यह महान् अनुष्ठान निःस्वार्थ सेवा और उच्च आत्मोत्सर्ग की भावना से ही किया जा रहा है। पर मैं अब निराश हो वापस जा रहा हूँ। निश्चय ही, उस कृषक परिवार की पूर्ण सात्विकता और पर-कातरता की भावना तुम्हारे इस राजसूय यज्ञ में सर्वथा नहीं थी।

नेवले के इन खरे और निश्छल शब्दों को सुन व्यास मुनि और पाण्डव हक्के-बक्के रह गये। नेवले की सत्य उक्ति का उनके पास कोई उत्तर नहीं था।

व्यास मुनि वेदवेत्ता, धर्मनिष्ठ, गम्भीर, पारंगत विद्वान्, निष्कपट और निश्छल, महापुरुष थे। उन्होंने नेवले को सम्बोधित करते हुए कहा—"बन्धुवर ! तुमने एक तुच्छ प्राणी के शरीर को धारण करके भी बड़े मर्म और तथ्य की बात कही है। निःसन्देह, युधिष्ठिर और उसके भाइयों द्वारा आयोजित इस विशाल यज्ञ समारोह के पीछे अभिमान, प्रतिस्पर्द्धा, प्रतिशोध इत्यादि राजसी भावनाएं ही थीं। इसी कारण तुम्हारा बाकी शरीर स्वर्णमय नहीं हो सका।"

युधिष्ठिर ने अपराध स्वीकृति के स्वर में कहा—"तुम तो सचमुच कोई गुप्त दिव्य शक्ति हो जो इस भूमि पर सरकने वाले शरीर में अन्तर्निहित हो। मैं तुम्हारा आरोप निःसंकोच स्वीकारता हूँ। पर क्या तुम कोई ऐसा उपाय बता सकते हो जिस से इस दोष का निवारण हो और तुम्हारी अवशिष्ट त्वचा स्वर्णमय हो सके ?

नेवले द्वारा धर्मराज को शंख प्रदान

नेवले ने कहा—"धर्मराज ! मेरा यह पाँचभौतिक शरीर तो अब शीघ्र छूटने वाला है। मुझे जिस उद्देश्य सिद्धि के लिए यह शरीर धारण करना पड़ा था, वह अब पूर्ण हो चुका है। इसलिए मुझे अब आप सब पाण्डवों और मुनिवर व्यास से विदा लेनी ही होगी। हाँ, तुम्हें यह शंख दे जाता हूँ। अब तुम जब दूसरा राजसूय यज्ञ करोगे तो अपने सम्मुख इसी कृषक परिवार का लक्ष्य रखना। अगर तुम सचमुच विशुद्ध सतोगुणी भावना और विनम्रता, निष्कपटता तथा प्राणिमात्र के प्रति कल्याण की भावना से दूसरा यज्ञ करोगे तो यह शंख स्वतः बजकर सम्पूर्ण विश्व में अपनी ध्वनि फैला देगा। अगर यह शंख ध्वनि स्वतः न हो तो समझ लेना कि तुम्हारा आभ्यन्तरिक मल अभी तक ज्यों का त्यों है।"

अपने इस कथन की पुष्टि में नेवले ने युधिष्ठिर को वेद के इस मंत्र का उपदेश दिया—

ओ३म् । भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो
दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा
उपसंनमन्तु ॥ अथर्व १६ । ४१

राष्ट्र तभी बलशाली और ओजस्वी होगा जब राष्ट्र के कर्णधार सुख-कल्याण को जानने वाले ज्ञानी पुरुषों के सदृश सबका हित चाहने वाले और तपस्वी तथा उत्तम लक्ष्य की सिद्धि के लिए पूर्णतः दीक्षित हो इस मार्ग का अवलम्बन करेंगे। ऐसे राष्ट्र नेता के सम्मुख विश्व की दिव्य शक्तियां स्वयं समीप आ झुक जाती हैं।

नेवले ने कहा "राजन्! तुम्हारा आगामी राजसूय यज्ञ यदि वेद की इस आज्ञा के अनुसार होगा तो मैं पुनः यज्ञ वेदी पर आकर अपने आधे बचे शरीर को स्वर्णमय बना लूंगा। उस समय यह शंख स्वतः अपनी ध्वनि से दसों दिशाओं को गुंजा देगा।

शंख अभी तक मौन पड़ा है

इतना कहते ही नेवला वहाँ से अन्तर्ध्यान हो गया। शंख युधिष्ठिर के पास सुरक्षित रहा। महाभारत युद्ध के पश्चात् धर्मराज ने राजसूय यज्ञ किया पर वह शंख एक बार भी नहीं बजा। अन्त में युधिष्ठिर ने नेवले की यह धरोहर हिमालय की उपत्यका में स्थित व्यास मुनि के आश्रम में जा उन्हें सौंप दी। इसके पश्चात् युधिष्ठिर चारों भाइयों के साथ महा प्रयाण कर गये। शंख एक महत्त्व पूर्ण प्रश्नवाचक चिह्न के रूप में अभी तक मौन पड़ा है।

१३

महाभारत युद्ध के बाद

शोक निमग्न धृतराष्ट्र का दुःस्वप्न : विदुर का समाधान : यह संसार चक्र

भारत के ऐश्वर्य, गौरव और चतुर्दिग् व्याप्त वर्चस्व को आत्मसात् कर महाभारत का १८ दिन का युद्ध समाप्त हो गया। पाण्डव विजयी होकर भी दुःख में डूबे हुए थे। कौरव कुल का तो अन्त ही हो गया था। चारों ओर शोक और वेदना की काली घटाएँ छाई हुई थीं। विधवाएँ, अनाथ बच्चे और वृद्ध—यही बचे

थे और हाहाकार कर रहे थे। कुरुक्षेत्र की समस्त रणभूमि एक ओर नर-नारियों के करुण क्रन्दन और दूसरी ओर सड़ी-गली, तीव्र दुर्गन्धपूर्ण, रक्तधाराओं से आवेष्टित लाशों के ढेर से आपूरित थी। मृत देहों की अन्त्येष्टि के लिए भी कोई बचा न था। श्वान-श्रृगाल, काक, गृध्र आदि मृत भक्षकों का अब स्वच्छन्द, निर्बाध राज्य था।

कौरवों के पिता-माता राजा धृतराष्ट्र और रानी गान्धारी अथाह सन्ताप, शोक और अन्तर्वेदना के सागर में गोते खा रहे थे क्योंकि उनके सारे पुत्र युद्ध क्षेत्र में धराशयी हो गए थे। निष्पक्ष और निःस्पृह होने के कारण संजय और विदुर—दो ही बचे थे। दोनों ही धर्मज्ञ, सत्यवक्ता और राजनीतिज्ञ थे तथा धृतराष्ट्र के मन्त्रि-मण्डल के सदस्य थे। अपनी इस मनोव्यथा से कुछ राहत पाने के लिए धृतराष्ट्र ने संजय को बुला भेजा। अत्यन्त विषादपूर्ण शब्दों में धृतराष्ट्र ने कहा—

धृतराष्ट्र का पश्चात्ताप

(१) संजय! मेरे पुत्र, मंत्री, सदस्य और सुहृद्गण इस महायुद्ध में समाप्त हो गए। निश्चय ही, अब मैं इस पृथ्वी पर एकाकी भटकता हुआ दुःख ही दुःख भोगूंगा।

(२) जिसके पंख कट गये हैं, ऐसे जराजीर्ण पक्षी के सदृश बन्धु-बान्धवों से हीन मुझ वृद्ध का अब इस जीवन से क्या प्रयोजन?

(३) महामते! मेरा राज्य छिन गया, पुत्र-प्रपौत्र, बन्धु-बान्धव सब मारे गए। नेत्र तो पहले ही नष्ट हो चुके थे। क्षीण किरण युक्त सूर्य के सदृश इस भूतल पर मैं अब प्रकाशित नहीं हो सकता।

(४) मैंने सुहृदों और शुभचिन्तकों की बात नहीं मानी। परशुराम, नारद, व्यास आदि ने मेरे हित के परामर्श दिए पर मैंने किसी की न सुनी।

(५) श्री कृष्ण ने भरी सभा में मेरे कल्याण के लिए ही कहा था—

"राजन्! वैर बढ़ाने से क्या लाभ? अपने पुत्रों पर नियंत्रण रखिए।" श्री कृष्ण की इस शिक्षा को न मान आज मैं अत्यन्त सन्तप्त हूँ। हाय! अब तो मैं कभी धर्मयुक्त कोई परामर्श नहीं सुन सकूंगा।

(महाभारत, स्त्रीपर्व, १।१०-१५)

काल सबसे महान् है—विदुर

धृतराष्ट्र जब इस प्रकार की डावांडोल मानसिक स्थिति में गोते खा रहा था तब उसके सुयोग्य और नीतिज्ञ मंत्री विदुर स्वयं ही राजा को सान्त्वना देने पहुंचे। विदुर ने शास्त्रों और ऋषि-मुनियों के वचनों से राजा को ढाढ़स बँधाते हुए कहा—

(१) राजन्! आप भूमि पर इस प्रकार औंधेमुंह क्यों पड़े हैं? उठकर बैठ जाइए और बुद्धि द्वारा अपने मन को स्थिर कीजिए। लोकेश्वर! समस्त प्राणियों का अन्तिम गति मृत्यु ही है :

(२) समस्त उत्थानों का अन्त उनके अधः पतन में ही है। भौतिक उन्नति की समाप्ति उसके क्षय में ही है। समस्त संयोगों का अन्त वियोगों में ही है। संपूर्ण जीवन की इतिश्री मरण में ही है।

(३) कुरु श्रेष्ठ ! काल बड़ा महान् है। उसका किसी से प्रेम व द्वेष नहीं है। उसका कोई उदासीन भाव भी नहीं है। काल सबको अपने पंजों में बलपूर्वक खींच रहा है।

(४) काल ही प्राणियों को पकड़ता, काल ही प्रजाओं का संहार करता और काल ही सबके सो जाने पर निरन्तर जागता रहता है। काल का उल्लंघन कभी संभव नहीं है।

(५) रूप, यौवन, जीवन, धन, संग्रह, आरोग्य, प्रियजनों का सहवास—इत्यादि सब अनित्य हैं। अतः विद्वान् कभी इनमें आसक्त नहीं होते।

(६) राजन् ! आप इस प्रकार जो शोक-संतप्त हो रहे हैं, यह न अर्थ का, धर्म का और न ही सुख का साधक है। इसके फलस्वरूप, मनुष्य अपने कर्त्तव्य पथ से विचलित हो जाता है और साथ ही, धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्ग से वंचित हो जाता है। (महाभारत, स्त्रीपर्व, २।२,३,८,२४,२५,२६)

समस्त प्राणी जन्म—मृत्यु के बन्धन में

विदुर ने इस प्रसंग में पर्याप्त लम्बा और प्रभावशाली उपदेश धृतराष्ट्र को दिया। राजा को इससे पर्याप्त धीरज मिला। उसने कहा—

हे बुद्धिमान विदुर ! तुम्हारे इन सारपूर्ण वाक्यों से मेरा शोक बहुत कम हो गया है। पर मैं तुम्हारे मुख से ऐसे तत्त्वपूर्ण वचनों को और अधिक सुनना चाहता हूँ।

विदुर ने कहा—राजन् ! जैसे क्रीड़ा के लिए पानी में तैरता हुआ कोई प्राणी कभी डूबता और कभी ऊपर आ जाता है, इसी प्रकार इस अगाध संसार सागर में जीवों का डूबना और उभरना (मृत्यु और जन्म) सतत होता रहता है। मन्द-बुद्धि मनुष्य ही इस संसार में कर्मभोग के हेतु बंधते और कष्ट पाते हैं।

धृतराष्ट्र ने फिर पूछा—हे श्रेष्ठ विदुर ! इस गहन विश्व के रूप का ज्ञान कैसे हो और इस संसार-बन्धन से छूटने के उपाय क्या हैं ?

विदुर ने राजा के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"जो व्यक्ति सदा अपने को प्रभु अर्पित समझते हैं और धर्म के अनुसार जीवनयात्रा चलाते है, वे ही जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूटने के अधिकारी होते हैं। साधारण मनुष्य तो अपने सिर पर सदा नाच रही मृत्यु को भी नहीं समझ पाता। लोभ के वशीभूत हो यह सारा संसार ठगा जा रहा है। लोभ, क्रोध और भय से यह मनुष्य इतना पागल हो गया है कि अपने स्वरूप को सर्वथा भूल चुका है।"

अगले दिन जब विदुर धृतराष्ट्र को शान्ति का उपदेश देने आये तो राजा ने कहा—हे महात्मन् ! रात को मुझे एक भयंकर स्वप्न आया है। मैं अभी तक उससे संत्रस्त हूँ। तुम ही, कृपा कर, मेरे इस भय और त्रास का निराकरण कर सकते हो।

धृतराष्ट्र का भयंकर स्वप्न

विदुर द्वारा पूछे जाने पर कि वह स्वप्न क्या है, धृतराष्ट्र ने उसका विवरण इस प्रकार दिया—

"मैं एक गहन वन में यात्रा कर रहा हूँ। चलते-चलते एक अत्यन्त दुर्गम प्रदेश में पहुंच गया। हिंसक पशुओं से भरपूर यह अरण्य था। सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, मदोन्मत्त हाथी, रीछ आदि के रोमांचकारी गर्जन-तर्जन से समूचा वनस्थल इतना आतंकपूर्ण हो गया कि उसे देख सुन यमराज भी थर्रा उठे। उसी समय आकाश में प्रलयंकारी घनघोर काली घटा छा गयी। अमावस की काली निशा सदृश घोर अंधकार चारों ओर छा गया। घबराया हुआ मैं आश्रय के लिए वेग से इधर-उधर दौड़ने लगा। इस बीच एक गहरे गड्ढे में जा गिरा। बाद में पता चला, वह सूखा कूंआ था जिसमें एक वृक्ष भी था। बादलों की कर्णभेदी गड़गड़ाहट के बीच आकाश में अचानक बिजली चमकी। मैंने अपने को विचित्र स्थिति में पाया। मेरा सिर नीचे और भुजा और टाँगें ऊपर वृक्ष की शाखाओं में उलझी हुई हैं। मैं सहम गया। इसी बीच फिर बिजली चमकी। मैं यह देख सुन्न हो गया कि वृक्ष के नीचे एक भीमकाय अजगर साँप मुंह खोले बैठा है। उसके आस-पास कई विषैले साँप चक्कर लगा रहे हैं। बिजली की फिर चमक में ऊपर देखा तो कुंएं के ऊपर—किनारे पर, श्वेत कृष्ण रंग का और छः मुख तथा १२ पैरों वाला भारी भरकम सूंड से जोरदार श्वास छोड़ता मदोन्मत्त हाथी खड़ा है। पास में ही, सिर के बाल खोले, भयावह आकृतिकी एक नारी खड़ी है। बिजली फिर चमकी। देखा, जिस वृक्ष के सहारे में औंधे मुंह लटका था, उसे सफेद और काले दो चूहे कुतर रहे हैं। आसन्न मृत्यु की इस रोंगटे खड़े करने वाली स्थिति में मैं असहाय मुंह खोले लटक रहा हूँ कि इसी क्षण मधु के बिन्दु कुछ रुक-रुक कर टपकते मेरे मुंह में अनायास ही पड़ने लगे। मैं उन्हें स्वाद से चाटने में मग्न हो अधिक मधु-बिन्दुओं की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। इस मधु-आस्वादन की मस्ती में मैं कूंए में उलटे लटके और ऊपर तथा नीचे खड़े भयप्रद प्राणियों के अस्तित्व को भी भूल-सा गया हूँ। पुनः-पुनः मधुकण की आकांक्षा कर रहा हूँ।"

इस विचित्र और डरावने स्वप्न का वर्णन करने के बाद धृतराष्ट्र ने विदुर से कहा—महात्मन्! तत्काल मेरी नींद खुल गयी। भौंचक्का-सा इधर-उधर देखने लगा। कहाँ घना वन और कहाँ सूखा कूंआ, वृक्ष और ऊपर-नीचे भयप्रद प्राणी। मैंने तो अपने को महल में कोमल पलंग पर लेटा पाया। पर, तब से अभी तक इस स्वप्न की उधेड़-बुन कर रहा हूँ। तुम ही बताओ, इस स्वप्न का क्या अभिप्राय है? कहीं यह एक अन्य विनाशक और घोर संहारक अपशकुन की पूर्व सूचना तो नहीं? मैंने तुम्हें इतनी भोर वेला में इसीलिए बुलाया है कि तुम्हारे वचनों से मेरी यह घबराहट दूर हो।

विदुर द्वारा आश्वासन और स्वप्न का समाधान

विदुर ने धृतराष्ट्र को आश्वस्त करते हुए कहा—राजन्! इस स्वप्न के हेतु तुम्हें किसी प्रकार की बेचैनी नहीं होनी चाहिये। यह तुम्हारे लिए किसी भावी आशंका व अपशकुन का पूर्वाभास नहीं। वस्तुतः यह स्वप्न तुम्हारे—और मेरे लिए भी—प्रत्येक मनुष्य के लिए—एक अवश्यम्भावी चेतावनी सदृश ही है।

धृतराष्ट्र को सान्त्वना देते हुए विदुर ने इस स्वप्न की व्याख्या इस प्रकार की—

यह संसार एक घनघोर जंगल के सदृश है। हम सब इसके यात्री अज्ञान के गर्त्त में गिरे पड़े हैं। कूँए का वृक्ष संसार का प्रतीक है। वृक्ष के नीचे मृत्यु

रूपी अजगर मुँह खुले हर क्षण प्राणियों को निगलने के लिए तैयार बैठा है। अजगर के पास अन्य रेंग रहे सांप रोग तुल्य हैं जो मनुष्य पर हर घड़ी हमला करने की ताक में रहते हैं। कुँए के ऊपर किनारे पर बाल खोले खड़ी भद्दी सूरत की नारी बुढ़ापा है। जराजीर्ण होने पर रूपवान् पुरुष भी बदसूरत हो जाता है। कूआ यह शरीर है जिसमें जीवात्मा संसार रूपी वृक्ष के साथ उल्टा लटका हुआ है। छः मुख और १२ पैरों वाला हाथी वर्ष की छः ऋतुओं और १२ मासों का द्योतक है। दिन-रात रूपी श्वेत और कृष्ण दो चूहे इस शरीर को लगातार कुतर रहे—खा रहे हैं। इस भयंकर संकट ग्रस्त स्थिति में तुम्हारे मुख में पड़ रहे मधु-बिन्दु मानव की मोहपूर्ण आकाँक्षाएँ, और कभी समाप्त न होने वाली आशाए तथा तृष्णाएँ है जिनका रसास्वादन करने में मनुष्य आजन्म भागदौड़ करता रहता है। रोग और मृत्यु के सिर पर हर क्षण नाच रहे संकट को इन मधु-कणों के क्षणिक स्वाद के पीछे भूल जाता है।

संसार चक्र से कैसे मुक्त हों

विदुर ने इस निरन्तर गतिशील संसार चक्र का वर्णन करते हुए कहा—

एवं ससांर चक्रस्य परिवृत्तिं विदुर्बुधाः।
येन ससांर चक्रस्य पाशान् छिन्दन्ति वै बुधाः॥

महाभारत, स्त्रीपर्व ६। १४

विद्वान् पुरुष इस संसार चक्र की गति को समझते हैं और इस संसार में रहते हुए इसके बन्धनों को वैराग्यरूपी शस्त्र से हर क्षण काटते रहते हैं।

धृतराष्ट्र ने पूछा—महात्मन्! कृपा कर यह बताइये कि इन बन्धनों को काटने के लिए क्या साधन हैं जिनका मैं अवलम्बन करूँ? विदुर ने कहा—इसका पहला साधन है कि प्रतिदिन अपने जीवन का स्वयं निरीक्षण करना। शास्त्रकार के शब्दों में—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति॥

मनुष्य प्रतिदिन अपने चरित्र की पड़ताल करे और यह देखे कि क्या मैं पशु जैसा बन रहा हूँ अथवा क्या मैं श्रेष्ठ पुरुषों के मार्ग पर चल रहा हूँ? दूसरा उपाय है कि जीवन का प्रत्येक क्षण सावधानता के साथ व्यतीत करे क्योंकि जो क्षण बीत गया है, वह फिर दोबारा वापस नहीं आ सकता। व्यास मुनि कहते हैं—

उत्थायउत्थाय बोद्धव्यं किमद्य सुकृतं मया।
आयुषः खण्डमादाय रविरस्तं गमिष्यति॥

हे मनुष्य! हर क्षण सावधानता से जागता हुआ यह विचार कर कि आज के दिन मैंने कितने अच्छे काम किये हैं क्योंकि अस्त होता हुआ सूर्य तुम्हारे जीवन में से एक दिन कम करके चला जाएगा। समय का मूल्य समझना चाहिए। मानव की वास्तविक सम्पत्ति सोना, चाँदी, रुपया, पैसा, मकान, जायदाद इत्यादि नहीं है किन्तु समय है। अगर समय का, काल का, प्रत्येक क्षण का ठीक दिशायें और ठीक ढंग से उपयोग किया गया, तब ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति सहज ही हो जाती है

और यदि इसके विपरीत काल, और समय का सदुपयोग न किया गया, तब पछतावे के अतिरिक्त कुछ हाथ में नहीं आता। एक क्षण का मूल्य कितना है, यह तब समझ में आता है जब कोई प्रियजन मरणासन्न होता है। सम्बन्धी कहते हैं, डाक्टर साहब!! ५ मिनिट का जीवन इसे किसी औषधि से दे दें ताकि हम अन्तिम शब्द इसके सुन लें। आप जितनी कहेंगे उतनी फीस हम दे देंगे।" पर क्या कोई डॉक्टर एक क्षण का जीवन भी उसे प्रदान कर सकता है? जिस एक क्षण का जीवन में कोई मूल्य नहीं समझा, वृथा गप-शप, खेल-कूद विषय और भोग में गँवा दिया, उसका कितना मूल्य है—यह तब समझ में आता है, जब जीवन दीपक बुझ रहा होता है।

विदुर ने कहा, राजन्! वेद कहता है—

> ओ३म्। यथाहान्यनु पूर्वं भवन्ति
> यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु।
> यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा
> धातरायूंषि कल्पयैषाम्॥ ऋग्० १०।१८।५

एक दिन के पीछे दूसरा दिन आता है, एक ऋतु के बाद दूसरी ऋतु आती हैं, बाद में आने वाला दिन पहले दिन को नहीं छोड़ता, यह क्रम ठीक प्रकार से चल रहा है, ऐसे ही हे जीवन धारण करने वाले मनुष्य! यह जीवन चक्र चलता है, तू जीवन के प्रत्येक क्षण को व्यर्थ न गँवा, उसे सफल कर।

सन्तान वियोग और कौरववंश की पराजय से शोक विह्वल धृतराष्ट्र को महात्मा विदुर के इस सारगर्भित प्रवचन से अपरिमित शान्ति प्राप्त हुई।

१४

यात्रा और यात्री

ग्यारह उपनिषदों में एक "बृहदारण्यक" है। इसमें दो शब्द हैं बृहत् और अरण्यक अर्थात् "बड़ा जंगल"। अरण्य और उद्यान में बड़ा भेद है। अरण्य वह है जिसमें बिना किसी पूर्वयोजना अथवा व्यवस्था के स्वतः ही छोटे-बड़े वृक्ष, लता, पौधे, गुल्म, घास इत्यादि प्रादुर्भूत हो बढ़ते, फलते-फूलते और क्षीण होते रहते हैं। उद्यान वह है जिसमें पूर्वयोजना और व्यवस्था के अनुसार समस्त वृक्ष लता, पौधे इत्यादि का वपन किया जा रहा है और एक निश्चित विधि से उनकी सार-सँभाल की जाती है। उद्यान में मार्ग और वीथियाँ भी चतुर माली के हाथों निर्मित की जाती हैं पर अरण्य में कोई मार्ग नहीं होता। वहां यात्री को स्वयं मार्ग निकालना व तलाशना होता है।

महान् अरण्यों से मार्ग निकालना

यह विश्व महान् अरण्य के सदृश हैं। इसे ही "बृहदारण्यक" नाम से अभिव्यक्त किया गया है। इस अरण्य में यात्री मनुष्य है जिसने मार्ग व पथ ढूँढ़ना है। "मार्ग" शब्द का, कोश के अनुसार धात्वर्थ ही यह है कि "मार्ग्यते, संस्क्रियते पादेन अथवा मृग्यते, अन्विष्यते गमनाय यः स मार्गः"। अर्थात्, मार्ग वह है जिसे यात्री स्वयं चलकर बनाता है अथवा जिसे चलने के लिए खोजा व ढूँढ़ा जाता है। इसी धातु से "मृग" शब्द बनता है जिसका अर्थ है, हरिण, क्योंकि शिकारी इसे जंगल में खोजता और ढूँढ़ता है। "मार्ग" के लिए "पथ" व "पन्थ" शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। वेद के कई मंत्रों में इन दोनों शब्दों का उल्लेख है। पथ का अर्थ, कोश के अनुसार है "पथति गच्छति तत्र स पथः।" जो चलता है, अर्थात् जिसे खोजा व ढूँढ़ा नहीं जाता, वह पथ व पन्था है। यदि लोक व्यवहार की भाषा में कहें तो 'पथ' एक चलती चालू सड़क का नाम है। मार्ग की तरह इसे पैर से बनाना, खोजना व ढूंढ़ना नहीं पड़ता है।

इस वृहत् अरण्य में से मार्ग निकालने वाले को "यात्री" कहते हैं। "यात्री" शब्द "या" धातु के साथ "त्र" के संयोग से "घञ्" प्रत्यय लगाकर बनता है जिसका, कोश के अनुसार, अर्थ है "वजिगीषा"। अर्थात् विजय की भावना। फलतः, यात्री वह है जो विजय की भावना के साथ मार्ग को खोजता व ढूँढ़ता है। गीता में श्री कृष्ण ने—

शरीर यात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध दह्येकर्मणः ।। ३ । ८

इस श्लोकार्ध में "यात्रा" शब्द का प्रयोग इसी दृष्टि से किया गया है, अर्थात् हे अर्जुन ! यदि तू कर्म नहीं करेगा तो तेरे शरीर के कार्य भी सफलता सहित नहीं चल सकेंगे।

अब स्पष्ट है, विश्वरूपी इस महान् जंगल में से मनुष्य ने यात्री के रूप में मार्ग निकालना है।

यात्रा के ६ अंग

जब भी यात्रा की जाती है, उसके छः मुख्य अंग होते हैं—(१) यात्री होना चाहिए। (२) यात्रा एक निश्चित अथवा निज स्थान से प्रारम्भ हो (३) यात्रा का उद्देश्य हो (४) यात्रा का मार्ग श्रेष्ठ हो अर्थात् सरल, सुगम और उद्देश्य की दिशा में हो (५) यात्रा के लिए रथ आदि की सवारी हो (६) यात्रा समाप्त होने पर यात्री अपने मूल स्थान पर सकुशल वापस आ सके।

अथर्ववेद १९।५६।१ का निम्न मंत्र इन छहों प्रश्नों का समुचित समाधान करता है—

ओ३म् । यमस्य लोका दध्या बभूविथ
प्रमदा मर्त्यान् प्र युनक्षि धीरः ।
एकाकिना सरथं यासि विद्वान्त्
स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ।।

[१] यात्री—आत्मा

यात्रा का पहला अंग है, कोई यात्री होना चाहिए। अगर यात्री ही नहीं है, तो यात्रा का कोई अभिप्राय ही नहीं हो सकता। अगर दूल्हा ही नहीं है, तो बरात कैसी ? इस मंत्र में पहले प्रश्न का उत्तर है—

एकाकिना यासि

हे आत्मन् ! तू ही यात्री है और तुझे अकेले ही यह यात्रा करनी होगी। "आत्मा" शब्द का धात्वर्थ ही "गमनशील" होना है। उणादि कोश ४।१५३ के अनुसार धातु है "अत सातत्य गमने।" इसकी व्याख्या पाणिनि ऋषि के अनुसार—

"अतति निरन्तरं कर्म फलानि प्राप्नोति,
व्याप्नोति वा योन्यन्तराणि स आत्मा।"

आत्मा वह है जो (१) निरन्तर गतिशील है अर्थात् (क) निरन्तर कर्मफल भोक्ता हो (ख) विभिन्न योनियों में—जन्म-जन्मान्तर द्वारा जाता हो।

आत्मा को निरन्तर गमनशील कहा गया है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार "गमन्' (गम धातु) के तीन अर्थ होते हैं, ज्ञानम्, गमनम्, प्राप्तिश्च, अर्थात्, ज्ञान उपलब्धि, गतिशीलता और उद्देश्य प्राप्ति।

यास्क मुनि द्वारा आत्मा का लक्षण—

आत्मा तते वप्ति वापि वाप्त इव स्याद् यावद्
व्याप्तिभूत इति (निरुक्त ३। १३। २)

अर्थात्, सदा चलता रहने वाला, चेतन प्राणियों का आधार।

लिंग पुराण १।७०।९६ में आत्मा का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यश्चास्य सन्ततोभावमस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

जो प्राप्त करता, लेता, विषयों का ग्रहण करता और विचार करता है, वह आत्मा है।

"आत्मा" शब्द की इस व्याख्या से स्पष्ट हो गया कि "आतमतत्त्व वह है जो निरन्तर गतिशील है (भिन्न-भिन्न योनियों में आता जाता है), ज्ञान प्राप्ति जिसका सहज लक्षण है और उद्देश्य प्राप्ति जिसका लक्ष्य है।

आत्मा को अकेले यात्रा करनी है

वेद के इस मन्त्र में कहा गया कि "एकाकिना यासि"—हे जीवात्मन् !! तुझे यह यात्रा अकेले ही करनी है। वेद के इन दो शब्दों में कितना गूढ़ तत्व निहित है। भौतिक जगत् में भी यात्रा तो अपने ही शरीर के अंगों द्वारा होती है, दूसरे की टाँगों पर अपना धड़ रख कोई यात्रा नहीं कर सकता। मनु महाराज कहते हैं—

(१) एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥
(२) मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठ लोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवाः यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥

प्राणी अकेला पैदा होता और अकेला ही संसार से जाता है । अकेला ही अपने अच्छे व बुरे कर्मों का फल भोगता है । मरे हुए शरीर को लकड़ी और पत्थर के समान भूमि पर रख, सब बन्धु-बान्धव उलटे मुँह वापस चले जाते हैं, केवल उस व्यक्ति के कर्म ही आत्मा के साथ जाते हैं ।

सन्त कबीर कहते हैं—

(१) आस पास जोधा खड़े सभी बजावें गाल ।
मंझ महल से लै चला ऐसा काल कराल ॥
माली आवत देखि के कलियां उठीं पुकार ।
फूली फूली चुन लियो काल्ह हमारी बार ॥

(२) यात्रा का प्रारम्भ—एक निश्चित स्थान से

इस यात्रा का प्रारम्भ कहां से हुआ । इस प्रश्न का उत्तर इस वेद मन्त्र में दिया गया है—

यमस्य लोकादध्या बभूविथ

हे जीवात्मन् ! तुम यम के लोक से इस मानव देह में आये हो । "यम" का अर्थ है समस्त विश्व का नियमन करने वाला परमात्मा, उसका "लोक" अर्थात् यह विशाल ब्रह्माण्ड । पांच भौतिक देह छोड़ने के बाद यह आत्मा शरीर के साथ, कर्मानुसार, विभिन्न लोकों में विचरण करता है और ईश्वरीय नियम से पुनः नवीन देह प्राप्त करता है । इसी यम लोक से यात्रा का प्रारम्भ इस मंत्र में कहा गया है । सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत ५ प्राण, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ सूक्ष्मभूत, मन तथा बुद्धि—यह १७ तत्व होते हैं ।

[३] यात्रा का उद्देश्य—परम पद प्राप्ति

आत्मा की इस यात्रा का लक्ष्य क्या है ? वेद का यह मंत्र कहता है—

प्रमदा मर्त्यान् प्रयुनक्षि धीरः

धीर और प्रमाद रहित मनुष्यों को इस जगत् से ही मोक्ष पद की प्राप्ति होती है । आत्मा का परम लक्ष्य तीनों प्रकार के—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—दुःखों से सर्वथा छूट परम आनन्द की प्राप्ति करना है । सांख्य दर्शन के पहले सूत्र में ही पुरुष अर्थात् आत्मा का लक्ष्य कहा गया है—

अथ त्रिविध दुःखात्यन्त निवृत्ति रत्यन्त पुरुषार्थः ।

इस सूत्र में "अत्यन्त" शब्द दो बार आया है, अर्थात् तीनों प्रकार के दुःखों से सदा के लिए छुटकारा यही पुरुष (जीव) का सबसे मुख्य उद्देश्य है । इस

"मोक्ष" के शास्त्रों में विविध नाम हैं। योगदर्शन में कैवल्य, सांख्य में परम पुरुषार्थ, न्याय में अपवर्ग, वेदान्त में मोक्ष, उपनिषदों में परम आनन्द, अमृत पद व परमधाम, वेदमें "अमृत" "परम पद" "मोक्ष" इत्यादि शब्दों से इसका वर्णन किया गया है। मोक्ष में आत्मा कारण शरीर, अर्थात् अभौतिक शरीर में, संकल्प मात्र से आनन्द की प्राप्ति करता रहता है। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के नौवें समुल्लास में लिखा है कि "आकाश तुल्य ब्रह्माण्ड में विचरता" और आनन्द में ही रहता है।

मुमुक्षुत्व की तीव्र आकांक्षा

इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मनुष्य के हृदय में जो अत्यन्त प्रबल आकांक्षा होती है, उसे शास्त्रों में "मुमुक्षुत्व" कहा गया है।

ऋषि दयानन्द के शब्दों में—

"जैसे क्षुधा तृष्णातुर को सिवाय अन्न-जल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे बिना मुक्ति के साधन और मुक्ति के दूसरे में प्रीति न होना मुमुक्षुत्व है।" (सत्यार्थ प्रकाश, नवम समुल्लास)

इसी भाव को योगदर्शन के १।२१ सूत्र **"तीव्र संवेगानामासन्नः"** में प्रकट किया गया है, अर्थात्, मानव आत्मा में जितना तीव्र संवेग मोक्ष के लिए स्थिर रूप में होगा, उतना ही उसे इस पद की प्राप्ति सहज होगी। शंकराचार्य विवेक चूड़ामणि श्लोक ८ में इस लक्ष्य प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्न शील होने का उपदेश देते हैं—

अतो विमुक्त्यै प्रयतेत विद्वान् संन्यस्त बाह्यार्थ सुखस्पृहः सन्।
सन्तं महान्तं समुपेत्य देशिकं तेनोपदिष्टार्थ समाहितात्मा।

इसलिए विद्वान् मुक्ति के लिए सदा प्रयत्न करे, बाह्य विषयों के सुखों की कामना छोड़ता हुआ और अपने देश में स्थित उत्तम, महान् सन्त के पास जा, उसके उपदेश के अनुसार अपने आत्मा को ध्यानावस्थित करे।

मुक्ति सान्त है, अनन्त नहीं

यहां, प्रसंग वश, यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि यह मुक्ति काल अत्यन्त दीर्घ होता है। इसलिए कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि मोक्ष काल से पुनः इस संसार में आना नहीं होता। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास में चतुर्युग, मन्वन्तर इत्यादि की पूरी गणना के बाद बताया कि इस सृष्टि की ३६ हजार वार रचना और उसका प्रलय—यह मोक्ष काल है जिसे "परमपद" "अमृतधाम" 'परान्त काल' इत्यादि नाम से कहा गया है। वेदान्त का अन्तिम सूत्र है—

"अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।"

अर्थात्, मोक्ष काल की अत्यन्त दीर्घता के हेतु "अनावृत्ति" वापस न आना—कहा जाता है। वस्तुतः, पुनरागमन तो होता ही है। शंकर ने भी इस सूत्र के भाष्य में कहा है—

तस्मादस्मात्कल्पादूर्ध्वं आवृत्तिर्गम्यते

इस मोक्ष कल्प के बाद आत्मा की पुनरावृत्ति होती है। सांख्य दर्शन सूत्र १।१६० के अनुसार—

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ।

बन्ध और मुक्ति का अत्यन्त उच्छेद कभी नहीं होता ।

वेद का निम्न मन्त्र इस विषय में कितना स्पष्ट है—

ओ३म् । पुनर्मनः पुनरायुर्म आऽगन् पुनः प्राणः
पुनरात्मा म आऽगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आऽगन् ।

यजु० ४ । १५

हे जगदीश्वर ! आपकी कृपा से विद्यादिगुणयुक्त मन-आयु मुझे पुनः पुनर्जन्मों में प्राप्त हो, पुनः शरीर धारक प्राण प्राप्त हो, पुनर्जन्म में मेरा आतमा शुद्ध विचार-युक्त प्राप्त हो, पुनः चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हो ।

वेदों में इस प्रकार के अनेक मंत्र आते है ।

मुण्डक ३।२।६ का वचन है—

ते ब्रह्म लोकेह परान्त काले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ।

मुक्त जीव महाकल्प के पश्चात् मुक्ति सुख छोड़ पुनः संसार में आते हैं ।

क्या मोक्ष प्राप्ति असंभव है ?

यह भी शंका की जाती है कि मोक्ष पद इतना ऊँचा है और इसकी प्राप्ति के लिए इतनी अधिक और लम्बी तपस्या करनी पड़ती है, इतना दीर्घकाल लगता है कि सामान्य पुरुष की पहुँच से यह बाहर ही है । यह शंका उचित नहीं है । इसके द्वारा मानव अपनी पराजय वृत्ति की भावना को ही प्रकट करता है । यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त कभी नहीं भूलना चाहिये कि लक्ष्य जितना अधिक ऊँचा होगा, उतना ही उसकी प्राप्ति के लिए मानव को अधिक प्रयत्न करने की प्रेरणा मिलेगी । इस अधिक प्रयत्न के संघर्ष से मानव के प्रसुप्त गुणों का विकास होगा । विश्व का इतिहास इसका साक्षी है और इसके पोषक ज्वलन्त उदाहरणों से भरपूर है। संसार में जितने भी महापुरुष, युगद्रष्टा, क्रांतिकारी, जननायक, उल्टी गंगा बहाने के सदृश लोक प्रवाह को सर्वथा परिवर्तित करने वाले हुए हैं, उन सबके जीवन का मूल मन्त्र यही था कि—

"कार्यं वा साधेयम्, देहं वा पातेयम्"

लक्ष्य की सिद्धि करनी होगी अथवा इस भौतिक देह का अन्त करना होगा । इस अविचल और दृढ़ संकल्प के साथ ही महापुरुषों ने सफलता प्राप्त की । एक जननायक का यह कथन कितना सार्थक है कि "मनुष्य के लिए कुछ असम्भव नहीं है और मेरे शब्द कोश में असम्भव शब्द के लिए कोई स्थान नहीं है ।" यदि एक व्यक्ति एक लक्ष्य प्राप्त कर सकता है तो दूसरा क्यों नहीं प्राप्त कर सकता ?

विज्ञान ने असम्भव शब्द समाप्त कर दिया

आज के वैज्ञानिक युग की यदि हम एक शती नहीं अर्द्धशती पूर्व की स्थिति तुलना करें तो कितना चमत्कारी परिवर्तन दिखाई देता है । विज्ञान की सहायता आज मानव समुद्र, नदी, पर्वत, जंगल, रेगिस्तान, पृथिवी, वायु, ऋतु, आकाश, जल इत्यादि अचेतन और चेतन प्राणी, पशु, पक्षी इत्यादि को नियंत्रित

करने वाला बन गया है। इतना ही नहीं, विश्व की सर्वोच्च हिमालय पर्वत की चोटी एवरेस्ट को उसने पद दलित कर दिया और चन्दमा को अपनी मुट्ठी में करके वहाँ पर भी आबाद होने के लिए वह प्रयत्नशील है। आज से ५० वर्ष पूर्व यह असम्भव प्रतीत होता था। अगली आधी व एक सदी में विज्ञान की सहायता से मानव क्या अद्भुत रचना कर सकेगा—यह हम आज कल्पना भी नहीं कर सकते, भले ही हम उसे इस समय "असम्भव" समझें।

एक वैज्ञानिक ने तो यहाँ तक कहा है कि आज से लगभग एक दशक बाद स्त्री-पुरुष के संयोग से सन्तान पैदा न होकर एक नलिका (ट्यूब) में कृत्रिम साधनों द्वारा मानव शिशु उत्पन्न किया जा सकेगा। इस प्रकार नारी को ९ मास का गर्भ धारण करने और कई प्रकार के शारीरिक बन्धनों से मुक्ति मिल जाएगी। कीट-पतंग-चूहा इत्यादि को इस नलिका में बिना नर मादा के संयोग के पैदा करने में विज्ञान लगभग सफल हो गया है।

पर क्या यह सब वैज्ञानिक उपलब्धियाँ एक दिन में, एक वर्ष में, एक सदी में, दो सदी में प्राप्त हो गयीं? क्या यहां तक पहुँचने के लिए वैज्ञानिकों ने कोई तपस्या नहीं की, कोई कष्ट नहीं उठाये, कोई त्याग नहीं किये, विपरीत और घातक परिस्थितियों से कोई मुकाबला नहीं किया? कोई साधना नहीं की? क्या बिना किसी के सहयोग और पथ प्रदर्शन के अकेले किसी भी वैज्ञानिक ने विभिन्न क्षेत्रों में यह सफलतायें प्राप्त कीं? इन सब प्रश्नों का उत्तर एक सबल "न" में है। यूरुप के इतिहास में हम पढ़ते हैं कि कैथोलिक पादरियों ने तो "पृथिवी गोल है" इसी सिद्धान्त की खोज करने वाले रोम के एक वैज्ञानिक को जिन्दा जला दिया था। समुद्र पर जहाज चलाने और उसकी गहराई की खोज में कितने ही गवेषकों को अपनी जान देनी पड़ी। विश्व के सर्वोच्च गिरि-शिखर ऐवरेस्ट तक पहुँचने के लिए कितने ही पर्वतारोहियों के शरीर हिमपात में गल गये।

आध्यात्मिक क्षेत्र में मोक्ष असम्भव क्यों?

अभिप्राय यह कि, लौकिक सुख सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए यदि वैज्ञानिकों ने सदियों निरन्तर और अनथक परिश्रम किया और इस दिशा में अद्यतन प्रयत्न जारी है, तब आध्यात्मिक क्षेत्र में मोक्ष पद प्राप्त करने से मानव क्यों कतराये और क्यों घबराये? यदि विज्ञान के क्षेत्र से "असम्भव" शब्द बहिष्कृत हो सकता है तो आध्यात्मिक क्षेत्र से क्यों नहीं इसे धत्ता बताया जा सकता? अथर्व वेद ५।३०।७ मंत्र में इस दिशा में प्रगति के मार्ग को "उदयनं पथः" उन्नति का पथ बताते हुए मानव के लिए "आरोहणमाक्रमणम्"—सदा अग्रसर होना और निराशा व आत्म हीनता पर सदा आक्रमण करना—इन दोनों की सिद्धि का कुंजी के रूप में निर्देशन किया गया है। अथर्व वेद ८।१६ में प्रभु उपदेश देते हैं—

जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि

हे मनुष्य! संसार में आध्यात्मिक जीवन के लिए मैं तुझे बल सामर्थ्य, शक्ति प्रदान करता हूँ। इस पृष्ठ भूमि में यदि मानव को मोक्ष पद प्राप्ति के लिए अनेक जन्मों में से गुजरना पड़े, जैसा कि श्री कृष्ण ने गीता ६।४५ में कहा है—

अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।

अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त करने के बाद मानव परम पद—मोक्ष को प्राप्त करता है, तो इससे हतोत्साह नहीं होना चाहिये। श्री कृष्ण ने गीता के ६।४० में यह भी कहा है कि श्रेष्ठ मार्ग पर चलने वाला कभी घाटे में नहीं रहता, उसका स्वल्प भी उद्योग समय पाकर अवश्य ही फलीभूत होता है। आत्म विश्वास और ईश्वर अनुकम्पा की इस अक्षुण्ण सम्पत्ति के साथ मानव को मोक्ष मार्ग के दीर्घ पथ पर हर क्षण गतिशील रहना चाहिए। महापुरुषों के जीवन हमें यही प्रेरणा देते हैं। १४ वर्ष का वालक मूलशंकर सच्चे शिव की खोज और अपनी बहिन तथा अपने चाचा के शव—अर्थात्, शिव और शव (मृत्यु) दोनों की समस्या का हल खोजने के लिए पहले चैतन्य ब्रह्मचारी और फिर दयानन्द के रूप में अपने सर्वस्व की वाजी लगा देता है। जीवन में १४ बार और अन्तिम काल तक विष दिये जाने के फलस्वरूप, तीव्र शारीरिक वेदना और असह्य, घातक रोग के साथ संघर्षशील वह आदित्य ब्रह्मचारी सस्वर वेद मंत्र पाठ और "प्रभो! तेरी इच्छा पूर्ण हो, तुमने यह सुन्दर खेल रचाया है..." इन शब्दों के साथ समाधिस्थ हो प्राण विसर्जन करता हुआ मोक्ष धाम के लिए महा प्रयाण कर जाता है। अमृत पद प्राप्ति का कितना देदीप्यमान, जीवन्त, स्फूर्तिप्रद कीर्तिमान इस महापुरुष ने शाश्वत काल के लिए उपस्थित कर दिया। जीवन के लक्ष्य मोक्ष के प्रति संदेशहशील और इसकी प्राप्ति को असम्भव समझने वाले व्यक्ति को क्या इस उपर्युक्त तथा विश्व के अनेक एतत् सदृश महामानवों के सक्रिय जीवन से सतत प्रेरणा और स्फूर्ति नहीं मिल सकती? विज्ञान के क्षेत्र में लब्ध प्रतिष्ठ पर नास्तिक गुरुदत्त के जीवन को मोक्ष यात्री ऋषि दयानन्द के इस अन्तिम क्षण ने सर्वथा नयी दिशा दे दी, तब फिर इसे असम्भव कह मानव क्यों अपनी पराजय स्वीकार करे?

केवल विज्ञान से मानव पतन के गर्त्त में ही

हमने अभी ऊपर अकल्पनीय वैज्ञानिक उन्नति की चर्चा की। पर क्या इससे ही मानव की समस्या का हल हो गया? क्या यह सत्य नहीं कि आज का मानव अधिक हिंसक, क्रूर, निर्दयी, अन्यायी, लोभी, कुटिल, मिथ्यावादी, धूर्त्त, लम्पट, व्यभिचारी इत्यदि दोषों का मूर्त्तरूप बन गया है? अपने दुर्गुणों से कई अंशों में वह पशुत्व की सीमा को भी लाँघ गया है। जहां तक ऐन्द्रिय सुख, भोग विलास और प्राप्ति का सम्बन्ध है, वह सब उसकी मुट्ठी में है। संयत और नियंत्रित जीवन को अप्राकृतिक बताते हुए आज के विज्ञान ने "उन्मुक्त सैक्स" पर आधारित "परमिसिव सोसाइटी" का सर्जन किया है। आज का प्रयोगवादी साहित्यकार, विज्ञान की इस चकाचौंध से अभिभूत, त्याग, तपस्या, साधना, संयम, आस्तिकता, श्रद्धा, विश्वास मोक्ष इत्यादि को सस्ते मजाक और कार्टूनका विषय ही बना रहा है। वेद के "त्यक्तेन" शब्द को उड़ाकर "भुंजीथाः" पर उसका अधिक बल है, "धनम्" पर उसकी समूची शक्ति केन्द्रित है पर "मा गृधः" को वह ताक पर रख देता है। व्यभिचार का कुत्सित और घृणित रूप इस युग में कितना बढ़ गया है यह इसी से ज्ञात हो जाता है कि स्त्री-पुरुष के सर्वथा बन्धन और सीमा रहित सम्बन्ध को वैध स्वीकार करने तक ही सन्तोष नहीं माना गया किन्तु अनेक प्रमुख पाश्चात्य देशों में "समलिंगी भोग" (होमोसैक्सुएलिटी) को भी कानूनन जायज मान लिया गया है। संस्कृत साहित्य में इस प्रकार समलिंगी व्यभिचार के लिए कोई शब्द नहीं है। स्पष्ट है कि यह पश्चिम का ही आविष्कार है। अभी तक जिसे कानून में "अप्राकृतिक व्यभिचार" (अन-नेचु-

रल क्राइम) समझा जाता था, इस वैज्ञानिक युग ने उसे कानून से स्वाभाविक और निर्दोष करार दे दिया है। भारतीय शास्त्रकारों ने धर्म अर्थात् आत्मोन्नति के बिना केवल "आहार, निद्रा, भय और मैथुन" को मनुष्य और पशु— दोनों में समान रूप से माना था। आज के विज्ञान की आड़ में, सचमुच मानव इन चारों क्षेत्रों में पशु को भी मात कर गया है। नीतिकार कहते हैं—

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः।

अपने स्थान से च्युत हो जाने पर दाँत, केश, नख और नर—सर्वथा शोभा-हीन हो जाते हैं। इतनी आश्चर्य जनक और अकल्पनीय वैज्ञानिक उन्नति होने पर भी आज का मानव इतना अशान्त, असंतुष्ट, शारीरिक और मानसिक गुप्त रोगों से पीड़ित, व्याधिग्रस्त, बहुविध चिन्ताओं और दुःखों में आलिप्त क्यों है—इसका एक मात्र कारण आत्म तत्त्व की उपेक्षा, आत्मा को शरीर का स्वामी न समझ, केवल इन्द्रियों को ही राजगद्दी पर बैठा देना और कटी हुई पतंग के समान आत्मा को परमात्मा के सान्निध्य, मोक्ष प्राप्ति के एक मात्र लक्ष्य से विच्छिन्न कर मानव को मात्र भौतिक तत्त्वों का पुंज (फिजीकल काम्बिनेशन) जान लेना है। जब तक मानव अपने जीवन का केन्द्र बिन्दु ब्रह्मार्पित आत्मा को अपने दैनिक आचरण में नहीं स्वीकारेगा तब तक केवल विज्ञान की अपरिमित उन्नति भी उसे भस्मासुर राक्षस की तरह स्वयं ही अपने विनाश से बचा नहीं सकेगी।

"केवल श्रेष्ठ कर्म करो—मोक्ष के झमेले से बचो"

आज के कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि मोक्ष के अनजाने, अनदेखे, और केवल मात्र सुने सुनाये स्वरूप के पचड़े में फँसने की क्या आवश्यकता है? श्रेष्ठ कर्म किये जाओ, परोपकार करते जाओ—इस से अपने आप उत्तम गति मिल जाएगी। पाश्चात्य विचारक कार्लाइल ने भी एक जगह यही कहा है—"तू अपने को जान नहीं सकता (दाऊ आर्ट अननोएबल एड अननोन) इसलिए इस झगड़े में मत फँस। अपने कर्त्तव्य का पालन करता जा।") यह युक्ति सुनने में तो बड़ी अच्छी प्रतीत होती है, पर वस्तुतः यह आत्म प्रवंचना का एक रूप ही है। इस प्रकार के विचारकों से हम पूछना चाहते हैं कि क्यों मनुष्य श्रेष्ठ कर्म करे, बुरा कर्म न करे ? जब तक उसके सम्मुख कोई लक्ष्य नहीं होगा, तब तक वह कैसे निर्णय कर सकेगा कि क्या पुण्य है और क्या पाप है ? इसीलिए वैदिक धर्म में आत्मिक विकास द्वारा प्रभु-दर्शन —मोक्ष-प्राप्ति का चरम लक्ष्य निश्चित किया गया है। जब मनुष्य इस तराजू पर अपने प्रत्येक कर्म को तोलेगा तभी वह श्रेष्ठ कर्म करने के लिए प्रेरित होगा अन्यथा वह पथभ्रष्ट हो जाएगा। सैनिकों के गण वेश को देखिए। एक सेना-पति से लेकर सामान्य सिपाही तक जहाँ प्रत्येक के गण वेश (यूनिफार्म) में पद के अनुसार विभिन्नता है, वहां कुछ चिह्न ऐसे हैं जो प्रत्येक के गण वेश पर समान रूप से अंकित हैं। इसका अभिप्राय यही है कि पद के रूप में सेनापति से लेकर एक सैनिक तक — प्रत्येक का अपना अपना कर्त्तव्य क्षेत्र है पर सामूहिक रूप में समस्त सेना का एक ही लक्ष्य है — विजय प्राप्त करना और राष्ट्र के सम्मान की रक्षा करना। राष्ट्र ध्वज राष्ट्र सम्मान का प्रतीक है। प्रत्येक राष्ट्र बड़े से बड़ा त्याग करके भी उसकी रक्षा करना परम कर्त्तव्य मानता है। इसी प्रकार मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष पद की प्राप्ति है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत, सामाजिक,

सामूहिक और विश्व के अंग के रूप में अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए इस परम लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर होना है।

शंका : कर्त्तव्य पालन ही धर्म है—मोक्ष प्राप्ति नहीं

कुछ विचारक यह भी कहते सुने जाते हैं कि—"अपने कर्त्तव्य का पालन करो यही परम धर्म है।" यह ठीक है पर कर्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय करना क्या सहज है? गीता का प्रारम्भ ही इस निर्णय के उपाय समझाने के लिए हुआ है। अर्जुन समझता है कि "मेरा कर्तव्य इस समय युद्ध क्षेत्र से भाग कर सन्यास आश्रम में चले जाना है।" श्री कृष्ण उसे अनेक प्रकार की युक्तियों और शास्त्रीय वचनों से क्षत्रिय के कर्तव्य का उपदेश देते हैं। अर्जुन की बुद्धि में श्री कृष्ण का उपदेश जच जाता है। वह अपने कर्तव्य को पहचान लेता है। गीता का अन्त अर्जुन के इसी वचन से होता है कि—

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव। १८। ७३

हे कृष्ण! मैं तेरे वचनों के अनुसार अपना कर्त्तव्य पालन करूंगा। मेरे सन्देह दूर हो गये हैं। इसलिए इस पेचीदा संसार में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य में भेद रेखा खींचना सरल नहीं है। मानव की सबसे बड़ी समस्या इस भेद-रेखा को समझना ही तो है। इसलिए जो लोग आत्मा-परमात्मा की अवहेलना कर केवल कर्त्तव्य पालन करने को ही प्राथमिकता देना चाहते हैं, वे भूल करते हैं।

ऊँचे लक्ष्य बिना कर्तव्यपालन सम्भव नहीं

जब तक मनुष्य के सामने ऊंचे से ऊंचा लक्ष्य नहीं होगा, तब तक वह कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का भेद नहीं कर सकेगा। यह सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष पद की प्राप्ति ही है। जब यह उद्देश्य हर क्षण सामने रहेगा, तब मनुष्य का आत्मा परमात्मा के सान्निध्य में रहता हुआ, स्वयं कर्त्तव्य मार्ग को पहचानने और अकर्त्तव्य से बचने तथा सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रभु से बल की प्राप्ति और कुमार्ग से बचने के लिए श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त करना रहेगा। बड़े से बड़ा प्रलोभन भी उसे उन्मार्गगामी नहीं होने देगा। उद्देश्य की ओर मुख किये चलने वाला व्यक्ति एक ओर मार्ग में आने वाली बाधाओं और दूसरी ओर प्रलोभनों की चमक-दमक से अपने को सर्वथा असंपृक्त रखेगा। बृहदारण्यक उपनिषद् में जब याज्ञवल्क्य ऋषि सन्यास आश्रम में जाने से पूर्व अपनी पत्नी गार्गी को अपनी समस्त सम्पत्ति इत्यादि देने के साथ-साथ अन्य भी मुंह मांगे यथेच्छ पदार्थ देने को समुद्यत हुए, तब उस देवी ने स्वल्प परन्तु अर्थपूर्ण शब्दों से इस प्रलोभन को ठुकरा दिया। उसने कहा—

येनाहं नामृता स्याम् तेन किमहं कुर्यामिति

जिस वस्तु से मुझे अमृत पद प्राप्ति में सहायता न मिलती हो, उसे लेकर मैं क्या करूं? बस, मोक्ष पद के पथिक के सम्मुख सदा यही विवेक शक्ति होनी चाहिए। उसे समझना चाहिए कि इस संसार में तीन पदार्थ ही दुर्लभ है—

मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुष संश्रयः

मनुष्य देह, मोक्ष प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा, और महापुरुषों का सत्संग और मार्ग-दर्शन—इन तीनों के महत्व का कभी नहीं भूलना है। मुमुक्षु को प्रतिदिन

प्रातः-सायं श्वेताश्वेतर ऋषि के शब्दों में यह प्रार्थना करनी चाहिए—

तं ह देवं आत्मबुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरण महं प्रपद्ये ।।

६ । १८

मैं मुमुक्षु उस आत्मबुद्धि के प्रकाश देने वाले परमात्मा की शरण को प्राप्त होता हूँ । समुद्र के तूफान में जहाज के लंगर के समान इस जगत् के प्रबल झंझावात में मुमुक्षुत्व की तीव्र भावना जीवन नौका की रक्षा के लिए अपरिहार्य है ।

——

१५

(४) यात्रा का मार्ग

"अपवर्ग" के लिए "प वर्ग" का त्याग : नकारात्मक साधन

यात्री कौन है ? यात्रा का प्रारम्भ कहां से हुआ और इस यात्रा का उद्देश्य क्या है—यात्रा के इन तीनों अंगों पर हम पिछले अध्यायों में विचार कर आये हैं । अब प्रश्न है कि इस यात्रा का मार्ग क्या है ? मार्ग ऐसा होना चाहिए जो उद्देश्य की ओर ले जाने वाला हो और सरल-सुगम हो । इस विषय के आरम्भ में दिए गए अथर्ववेद के १९।५३।१ मन्त्र में इसका उत्तर है "धीरः विद्वान् यासि" हे उत्तम मनुष्य ! तू विद्या के मार्ग पर चल पर धैर्य न छोड़ ।

न्याय दर्शन में मोक्ष को "अपवर्ग" नाम से कहा गया है । इसका लक्षण गौतम ऋषि ने इस प्रकार किया है—

दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरा-
पाये तदन्तरापायादपवर्गः ।

१ । १ । २

पहले से पीछे को और फिर पीछे से उलट पहले की ओर—दोनों रूप में पांचों कारणों के दूर करने पर अपवर्ग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है । दुःख के कारण जन्म मिलता है, जन्म के बाद संसार में फंसावट (प्रवृत्ति) होती है, इससे राग-द्वेषादि दोष पैदा होते हैं जिनका परिणाम भ्रान्त (मिथ्या) ज्ञान होता है । अब उल्टी ओर से—भ्रन्तज्ञान के हेतु दोष पैदा होते हैं, इन दोषों से मानव संसार में प्रवृत्त होता है, उस फंसावट के फलस्वरूप बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्र में आना पड़ता है और यह चक्र ही दुःख का उत्पादक है ।

"अपवर्ग" का स्वरूप

इस सूत्र का भाष्य करते हुए नैयायिक जयन्त भट्ट "न्यायमंजरी" में कहता है—

(१) तत्त्वज्ञानेन तेनाऽस्य मिथ्याज्ञानेऽपबाधिते ।
राग द्वेषादयो दोषास्तन्मूलाः क्षयमाप्नुयुः ।।
(२) क्षीणदोषस्य नोदेति प्रवृत्तिः पुण्यपापिका ।
तदभावान्न तत्कार्यं शरीराद्युपजायते ।।
(३) अशरीरश्च नैवात्मा स्पृशते दुःखडम्बरैः ।
अशेष दुःखोपरमस्त्वपवर्गोऽभिधीयते ।।

तत्त्वज्ञान के फलस्वरूप मिथ्याज्ञान के निराकरण होने पर राग-द्वेषादि दोष समूल नष्ट हो जाते हैं। जब दोष-नाश हो गया, तब पुण्य-पापरूप प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव नहीं होता। इस प्रवृत्ति के अभाव के हेतु पांच भौतिक शरीर से छुटकारा मिल जाता है। जब आत्मा शरीर के बन्धन से रहित हो गया, तब सम्पूर्ण दुःखों की परिसमाप्ति हो गयी। इसी का नाम अपवर्ग है। न्यायदर्शन के इस सूत्र और उस पर जयन्त भट्ट की व्याख्या से "अपवर्ग" अर्थात् मोक्ष-यात्रा के साधनों का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

"अपवर्ग" शब्द का एक अन्य अर्थ भी है और उसमें मोक्ष यात्रा के साधन निषेध के रूप में, संक्षेपतः, सुन्दर रूप में अन्तर्निहित हैं।

"पवर्ग"—पांच दोषों से बचना

देवनागरी वर्णमाला में स्वरों के अतिरिक्त ३८ व्यञ्जन अक्षर हैं। इन में कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ,) चवर्ग (च, छ, ज, झ, ञ) टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण) तवर्ग (त, थ, द, ध, न) और पवर्ग (प, फ, ब, भ, म)—पाँच वर्ग हैं। पवर्ग के अन्तर्गत प, फ, ब, भ, म—इन पाँच अक्षरों में प्रत्येक से एक-एक दोष का संकेत है। इन पांचों से छूट जाना—अर्थात् पवर्ग का अभाव ही "अपवर्ग" है। "पवर्ग" के प्रत्येक अक्षर से अभिप्रेत दोष की व्याख्या इस प्रकार है—

[१] प = पाप से बचना

(१) "प"—अर्थात् पाप ।। मोक्ष यात्री को सदा पाप के विचारों का निराकरण करना चाहिए। पाप का लक्षण शास्त्रकार ने इस प्रकार किया है—

अनुष्ठानं निषिद्धस्य त्यागो विहित कर्मणः ।
नृणां जनयतः पापं क्लेश शोक भय प्रदम् ।।

जो काम नहीं करना चाहिए, उसे करना और जो करना चाहिए, उसे न करना,—इसका नाम पाप है जिससे क्लेश, शोक और भय उत्पन्न होते हैं। —पाप से बचने और पुण्य मार्ग पर चलने के लिए परमात्मा के प्रति प्रार्थना और शक्ति माँगने के अनेक मन्त्र वेदों में आते हैं। पाप और पुण्य का स्वरूप क्या है—इसका भी वेदों में निर्देश किया गया है। इस विषय की विशेष व्याख्या हम एक पृथक् अध्याय में "पाप पुण्य मीमांसा"— इस शीर्षक के अन्तर्गत करेंगे। यहाँ हमने "पवर्ग" में पहले अक्षर "प" से "पाप" में फंसने से सदा बचने के विषय में, संक्षेप से कुछ कहा है।

[२] फ = फल की आशा नहीं

(२) पवर्ग का दूसरा अक्षर है "फ", अर्थात् "फल"। इसका अभिप्राय है कि मोक्ष साधक को केवल "फल" की इच्छा से ही कोई कार्य नहीं करना चाहिए। यह स्वाभाविक है कि धर्ममार्ग पर चलने के लिए पहली आकांक्षा "सकाम"—फल की इच्छा से ही होती है। पर मोक्ष-यात्री को "सकाम" से ऊपर उठकर "निष्काम" की ओर ही अग्रसर होना चाहिए। श्री कृष्ण ने गीता में अर्जुन को जो उपदेश दिए हैं, उनका सारभूत आधार "निष्काम कर्म" ही है। ऐसे "निष्काम" व्यक्ति को ही गीता में "स्थित प्रज्ञ" निम्न शब्दों में कहा गया है—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थित प्रज्ञस्तदोच्यते॥
दुःखेष्व नुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीत राग भय क्रोधः स्थित धीर्मु निरुच्यते॥ २। ५५-५६

जिस समय मन में पैदा होने वाली सारी भावनाओं को छोड़ देता है और अपने आत्मा में अपने आत्मा द्वारा ही सन्तुष्ट रहता है, उसे "स्थितप्रज्ञ" कहा जाता है। जिस समय दुःख के आने पर घबराता नहीं है और सुख के लिए लालसा नहीं करता है, तथा राग, भय, क्रोध का त्याग कर देता है, उस समय उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। ऐसे व्यक्ति को ही "मुनि" कहा जाता है।

[३] ब = बन्धन ५ प्रकार का

(३) पवर्ग का तीसरा अक्षर "ब" अर्थात् "बन्धन" है। योगदर्शन, साधन॰ पाद, सूत्र ३ के अनुसार बन्धन ५ प्रकार के हैं :—

अविद्याऽस्मिता राग द्वेषाभिनिवेशा पञ्च क्लेशाः॥

सबसे बड़ा बन्धन "अविद्या" का है। "अविद्या" का अर्थ, योगदर्शन के अनुसार—

(क) अनित्य पदार्थों में नित्य की भावना,

(ख) अपवित्र वस्तुओं को पवित्र समझना,

(ग) दुःखदायक को सुखदायक मानना, और

(घ) जड़ में चेतनता की बुद्धि रखना—यह चार है। दूसरे बन्धन "अस्मिता" का अर्थ दृश्यमान जड़ जगत् और (द्रष्टा) देखने वाला आत्मा—इन दोनों में एक सदृश भावना रखना है अर्थात् चेतन आत्मा को जड़ प्रकृति का अंग समझ लेना है। "राग" सदा सुख के पीछे भागना, "द्वेष" दुःख में ही सदा अपने को निमज्जित समझना और "अभिनिवेश"—निश्चित रूप से आने वाली मृत्यु से भय करना—यह पाँच प्रकार के बन्धन हैं।

[४] भ = भय से छूटना

(४) पवर्ग का चौथा अक्षर "भ" है अर्थात् सदा स्वयं भयग्रस्त रहना और दूसरों को भयभीत करना। पापी व्यक्ति सदा भयभीत रहता है। उसके अन्तरात्मा के

पाप ही उसे डराते रहते हैं। इसलिए पापी व्यक्ति एकान्त में बैठने और आत्मचिन्तन से सदा घबराता है। तब वह इस भय से छुटकारा पाने के लिए व "गम गलत" करने के लिए मद्य आदि नशीली वस्तुओं का सेवन आरम्भ कर देता है।

एक दूसरे प्रकार का भी भय है। वह अपने मित्र, साथी, परिवार, जात-बिरादरी आदि का है। हर समय चित्त में शंका रखना कि "लोग क्या कहेंगे"। इसीलिए वेद में प्रार्थना की गयी है—

ओ३म्। अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।

अथर्व० १९।१५।६

हे प्रभो! मैं मित्र, अमित्र, ज्ञात और जो सामने है, उन सब से अभय रहूँ, दिन में, रात्रि में निर्भय रहूँ, सब दिशाएं मेरे लिए मित्र रूप हों। इस मन्त्र में यह भाव भी निहित है कि जैसे मैं स्वयं अभय रहूँ, वैसे ही दूसरों को भी अभयदान करूँ।

क्या पापी ऐसी प्रार्थना कर सकता है? धर्मात्मा पुरुष ही सर्वथा स्वयं निर्भय और दूसरों को अभय कर सकता है।

[५] म=मोह से छूटना

(५) पवर्ग का पांचवाँ अक्षर "म" है जिसका अभिप्राय है "मोह"। मोह से मनुष्य अन्धा हो जाता है। धृतराष्ट्र को दुर्योधन के मोह ने अन्धा कर दिया था। हो सकता है, धृतराष्ट्र जन्मान्ध न हो। महाभारतकार ने मोहान्ध होने से ही उसे, संभवतः, अन्धा बना दिया हो। यदि वह "मोहान्ध" न होता तो महाभारत का युद्ध भी न होता।

मोह को शास्त्रकारों ने "मोहावर्त्त सुदुस्तरातिगहना" के शब्दों से इस संसाररूपी भयंकर नदी में घूमनघेरी (जल चक्र) बताया है। जब कोई तैराक व नौका इस जल चक्र (घूमनघेरी) में फस जाती है, तब डूबने के सिवाय उसके लिए अन्य कोई मार्ग नहीं होता। यही दशा मोहग्रस्त व्यक्ति की होती है। शास्त्रकार मोह का रूप इस प्रकार बताते हैं—

मम माता मम पिता ममेयं गृहिणी गृहम्।
एतदन्यं ममत्वं यत् स मोह इति कीर्तितः॥

मेरी माता, मेरा पिता, मेरी पत्नी, मेरा घर—इत्यादि सब मोह के रूप हैं।

इस प्रकार "पवर्ग" के पाँचों प्रकार के दोषों से मुक्त होने से ही "अपवर्ग" की प्राप्ति हो सकती है।

चतुर चिकित्सक रोगी को जहाँ रोग निवारक औषधि देता है, और परहेज बताता है, वहाँ रोगी के लिए पौष्टिक औषधि व भोजन भी बताता है जिससे शरीर रोग का मुकाबला कर सके। अर्थात्, निषेध और विधि दोनों प्रकार से चिकित्सा की जाती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी मोक्ष यात्री के लिए दोनों प्रकार के साधनों का अवलम्बन आवश्यक है। "अपवर्ग" की व्याख्या में ऊपर हमने "पवर्ग" के पाँचों

अक्षरों द्वारा मोक्ष यात्री के लिए निषेधात्मक साधनों का वर्णन किया। यात्री इन दोषों का त्याग तो करे, पर किन गुणों को ग्रहण करे—अर्थात् विधेयात्मक साधन क्या हैं—इसका अब हम उल्लेख करते हैं।

विधेयात्मक चार साधन— [१] विवेक

यह चार हैं। पहला "विवेक" है। इसका स्वरूप—शास्त्रों में कहा गया है—

नित्यानित्य वस्तु भेद: विवेक: नित्य और अनित्य वस्तुओं में भेद कर सकना विवेक है। देखने सुनने में तो यह बड़ा सरल प्रतीत होता है पर इसे जीवन में क्रिया रूप में लाना इतना सहज नहीं है। इसके लिए निरन्तर अध्यवसाय और जागरूक रहने की आवश्यकता है। नित्य क्या है और अनित्य क्या है? परमात्मा और आत्मा दोनों नित्य, अविकारी और अपरिणामी हैं। प्रकृति कारणरूप, अर्थात्, परमाणु रूप में नित्य है पर प्रतिक्षण संयोग-वियोगात्मक होने से परिवर्तनशील है। ब्रह्म दोनों का अधिष्ठाता और नियन्ता है। पर ब्रह्म के सदृश सत् और चेतन होने से आत्मा ब्रह्म के अधिक समीप है अपेक्षाकृत अचेतन और परिणामी प्रकृति के। अलंकार रूप से यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म और प्रकृति के बीच आत्मा स्थित है। जिस समय यह अनित्य प्रकृति की ओर आकृष्ट होता है, तब दुःख-क्लेश प्राप्त करता है और जब ब्रह्म के समीप जाता है, तब आनन्द और आह्लाद अनुभव करता है। नित्य ब्रह्म और अनित्य प्रकृति दोनों के बीच आत्मा द्वारा भेद किए जाने का नाम ही विवेक है। मुंडकोपनिषद् के ६।१ श्लोक में एक भावपूर्ण अलंकार द्वारा इस सिद्धान्त को समझाया गया है कि इस प्रकृतिरूपी वृक्ष पर मस्त हो बैठा जीवात्मा अपने को दुःख-ग्रस्त देख निराश हो शोक करता है पर जब अपने समीप ही सर्वान्तर्यामी रूप परम-स्वामी ब्रह्म को देखता है, तब शोक रहित हो अपनी महिमा अनुभव कर प्रसन्न हो जाता है।

नीतिकार कहते हैं—

विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपात: शतमुख:। जब मनुष्य विवेक रहित हो जाता है, तब उसका सैकड़ों प्रकार से अध: पतन होता है। संसार का इतिहास इस प्रकार के विवेकभ्रष्ट पुरुषों के अध: पतन से भरा पड़ा है। इसके विपरीत, इतिहास उन ज्वलन्त और स्फूर्तिप्रद नरपुंगवों की जीवन गाथाओं से भी आपूरित है जिन्होंने विवेक के सोपान पर चढ़ मानवमात्र का पथ प्रदर्शन किया है।

ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास में विवेक का अर्थ किया है, "जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव से जानकर उसकी आज्ञा पालन और उपासना में तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना, सृष्टि से उपकार लेना, विवेक है।"

[२] वैराग्य का वैदिकरूप

(२) मोक्ष यात्रा का दूसरा विधेयात्मक साधन है वैराग्य। इसके सम्बन्ध में कई भ्रान्त विचार फैले हुए हैं। वस्तुत:, वैराग्य का स्वरूप यदि ठीक प्रकार समझ लिया जाए तो यह उन्नत जीवन-यात्रा का अमूल्य सम्बल बन जाएगा। योगदर्शन के समाधिपाद सूत्र १५ में वैराग्य का लक्षण किया गया है—

दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् ॥

कितना भावपूर्ण और व्यापक यह लक्षण है। कुछ लोग पलायनवाद को ही वैराग्य का स्वरूप समझ लेते हैं। यहीं से भ्रान्त धारणा का प्रारम्भ होता है। योगदर्शन के इस सूत्र के अनुसार आँख, कान, आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों का जो भी ज्ञान प्राप्त होता है उसमें यदि दो अंकुशों का पुट रहेगा, तब मनुष्य, वस्तुतः वैराग्य धर्म का पालन कर सकेगा। वे दो अंकुश क्या हैं—इसी सूत्र में उनका निर्देश है। पहला—इन्द्रियों के विषयों में "वितृष्णा"—तृष्णा व लालसा का अभाव होना, और दूसरा "वशीकार"—इन्द्रियों और उन से प्राप्त ज्ञान को "वश" अर्थात्, संयम व नियंत्रण में रखना। इन्द्रिय विनाश का नाम "वैराग्य" नहीं है। किसी इन्द्रिय का नाश कर देने पर भी मन के भीतर विषय-वासना तो बनी ही रहती है। उसकी पूर्ति का द्वार विनष्ट हो जाने से मनुष्य मानसिक पाप करता है और वह ऐन्द्रयिक पाप से भी अधिक घातक होता है। परमात्मा ने मानव देह में इन दसों इन्द्रियों को यथा स्थान सुचारु रूप से रखा है। उनके सदुपयोग का नाम ही वैराग्य है। गीता ५।९-१० श्लोकों में इसी सिद्धांत की युक्तियुक्त पुष्टि की गई है—

(१) पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

(२) ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोतिः यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

उत्तम पुरुष देखता, सुनता, छूता, सूंघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, छोड़ता, लेता, आँख खोलता व बंद करता—इत्यादि इन्द्रियों के सारे कार्य (अपने विषयों के) करता हुआ भी सब कर्मों को, संग छोड़कर, ब्रह्म की ओर ले जाने की दृष्टि से ही करता है। तब जल में कमल पत्र के सदृश वह पाप लिप्त नहीं होता।

वैराग्य का यह अत्यन्त सार्थक और ठोस भावपूर्ण विवेचन है। भर्तृहरि ने इस वैराग्य को अपने जीवन में सक्रिय ढालकर इस प्रकार निरूपित किया है—

क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंक शयनम् ।
क्वचित् कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरः ।
क्वचित् शाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदन रुचिः ।
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥

कभी भूमि पर सोना और कभी पलंग पर शयन, कभी मनोहर वस्त्र धारण करना और कभी सर्वथा वस्त्रहीन होना, कभी केवल शाक का भोजन और कभी रुचिकर बढ़िया खीर—इन सब प्रकार की परस्पर विपरीत अवस्थाओं में भी मननशील, संयमी और कर्मशील व्यक्ति दुःख-सुख का अनुभव नहीं करता, सदा संतुलित रहता है।

वैराग्य का, वास्तविक, वेदानुकूल रूप यही है।

[३] षट् सम्पत्ति

(३) मोक्ष यात्री के लिए तीसरा विधेयात्मक साधन "षट् संपत्ति" है। इसके अंतर्गत छः गुण हैं जिन्हें "संपत्ति" नाम से शास्त्र में कहा गया है। वह निम्न हैं—

(क) शम = मन का संयम (ख) दम = इन्द्रियों का संयम (ग) उपरति = सांसारिक विषयों अथवा दुष्ट पुरुषों से उपराम अर्थात् अलगाव रखना (घ) तितिक्षा = सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, शीत-उष्ण, हानि-लाभ, भूख-प्यास इत्यादि द्वन्द्वों को सहना (ङ) श्रद्धा = परमात्मा और वेद में दृढ़ आस्तिक बुद्धि तथा ऋषि-मुनि आप्त पुरुषों के उपदेशों में आस्था (च) समाधान = मन को एकाग्र कर आत्मचिंतन करते हुए सदा ब्रह्मार्पित रहना।

[४] मुमुक्षुत्व

(४) चौथा विधेयात्मक उपाय "मुमुक्षुत्व" है। इस सम्बंध में हम पिछले अध्यायों में पर्याप्त विस्तार से कह आये हैं। शंकराचार्य के शब्दों में "मोक्षो मे भूयादितीच्छा मुमुक्षुत्वम्"—मेरा मोक्ष हो, इस इच्छा का नाम मुमुक्षुत्व है।

अथर्व वेद के १९।५६।१ मंत्र—जिसका उल्लेख पिछले अध्याय के आरम्भ में ही हो चुका है और जो अध्याय १४ से आरम्भ इस समूचे अनुशीलन का मूल आधार है, उसमें

"धीरः विद्वान् यासि"

वाक्य आया है। इसी की व्याख्या हमने इस अध्याय में की है। इसमें "धीर" शब्द विशेष ध्यान में रखने योग्य है। मोक्ष यात्री को यह यात्रा धैर्य के साथ करनी होगी। आध्यात्मिक साधना में घबराहट, जल्दबाजी, चटपट फल प्राप्ति, छोटा मार्ग (शार्ट कट) इत्यादि का कोई स्थान नहीं है। संसार में धन कमाने और पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के तो छोटे मार्ग हो सकते हैं पर मोक्ष पथ पर तो चिऊंटी के समान एक-एक कदम चल कर ही उद्देश्य की ओर बढ़ना होगा। जो "चट मंगनी पट ब्याह" की मनोवृत्ति के हैं, उन्हें इस मार्ग में आने का अधिकार ही नहीं है। मनु ने, इसी लिए, धर्म के दस लक्षणों में पहला स्थान "धृति"—धैर्य को ही दिया है। इस मार्ग पर सतत चलते जाना चाहिए। यदि कभी थकावट भी आ जाए, फिर उठकर चल देना चाहिए। सन्त कबीर के शब्दों में—

मारग चलते जो गिरै, ताकौ नाहीं दोस।
कह कबीर बैठा रहे, ता सिर करड़े कोस।

वेद के शब्दों में—

"उत्तिष्ठत संनह्यध्वम्" अथर्व ११।१०।१ उत्तम पुरुषो ! तुम खड़े हो जाओ और तैयार रहो मोक्ष यात्रा के लिए।

——

१६

(५) मोक्ष यात्री का रथ

अथर्ववेद के १९।५६।१ के जिस मंत्र के आधार पर हम पिछले दो अध्यायों में यात्रा सम्बन्धी चार अंगों का विशद विवेचन कर आए हैं, अब हम उसके पाँचवें अंग का चिन्तन प्रारम्भ करते हैं। इस मंत्र के यहाँ विवेचनीय शब्द हैं—

सरथं यासि॥

हे जीवात्मा ! इस मोक्ष मार्ग की यात्रा करने के लिए तू "रथ" के साथ जाता है।

यात्री गतिशील और सदा मस्त

"रथ" शब्द में दो अक्षर हैं, र और थ। "र" का अर्थ है "रमते" रमण करने वाला, अथवा "राति ददाति इति"—देने वाला। "थ" का "थर्वण" स्थिर दृढ़। अभिप्राय यह कि मोक्ष यात्री का जीवन रूपी रथ गतिशील, सदा प्रसन्न रहने वाला, दूसरों के प्रति दानशील और दृढ़ स्थिर हो। जीवन की गतिशीलता के संबंध में उर्दू के एक कवि के शब्दों में—

(१) हर सुबह सफर हर शाम सफर।
इस जिन्दगी का है नाम सफर॥

(२) जौक इस बहरे फनां में किश्तिए उम्रे रवां।
जिस जगह पर जा लगी, वो ही किनारा हो गया॥

स्व० हुकुमचन्द जी बग्गा का मस्त जीवन

आजन्म योग मार्ग के पथिक और आपादमस्तक आर्यत्व के गुणों से आभूषित हमारे परमप्रिय बन्धु स्वर्गवासी हुकुमचन्दजी बग्गा कहा करते थे कि मनुष्य को,

"हर हाल मस्त, हर चाल मस्त
हर ख्याल मस्त, हर मिसाल मस्त"

रहना चाहिए। वह अपने क्रियात्मक जीवन के आधार पर उपदेश में, प्रायः, यह शेर बोला करते थे—

(१) नाखुदा को छोड़कर जिनकी खुदा पर है निगाह।
हर तरह महफूज किश्ती उनकी तूफानों में है॥

(२) अगर कल से बेहतर नहीं आज तुम ।
तो एक दिन की दौलत हुई तुम से गुम ।।
न हो काम कुछ और दिन हो तमाम ।
डूबा वह दिन और उजड़ी वो शाम ।।

(३) जवानी में अदम के वास्ते सामान कर गाफिल,
मुसाफिर शब को उठते हैं जो जाना दूर होता है ।।

भाई बग्गा जी हिन्दी कवि का यह पद भी सुनाया करते थे—

(१) अमरलोक से नित्य निरन्तर, आता है यह दिव्य सन्देश ।
थक कर रुकना नहीं सारथी, नियराया अब पिय का देश ।।

(२) आओ जग के रंगमंच पर देखें अभिनय नये प्रात का ।
देख, कर्म पथ के राही जाग दूर क्षितिज का छोर हो गया, भोर हो गया ।।

दिवंगत बग्गा जी की यह मस्ती बनावटी व किसी बाहरी नशे पर आधारित नहीं थी। किन्तु सदा ईश्वर परायण जीवन और विनम्र परसेवा व्रत से ही प्रादुर्भूत थी।

आर्य समाज के पुराने उपदेशक स्वर्गीय श्री चिरंजी लाल "प्रेम" के एक प्रसिद्ध भजन की यह पंक्ति भी याद आ गयी—

"जहां पर रहूँ रहूँ मस्त मैं, मुझे ऐसा सब्रोकरार दे।"

जीवन-रथ के ऐसे यात्री के लिए लिए ही नीतिकार कहते हैं—

वदनं प्रसाद सदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः ।
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः ।।

जिनकी आकृति प्रसन्नतापूर्ण है, जिनका हृदय दयामय है, वाणी से अमृत बहता है और जिनका काम परोपकार करना ही है ऐसे महानुभाव किस के लिए आदरणीय नहीं हैं।

रथ सदा गतिशील रहे—रोहित को उपदेश

यह जीवन रथ सदा गतिशील रहना चाहिए। वेद कहता है—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः ।। ऋग् ४ । ३३ । ११

जिसने श्रम द्वारा अपने को थका नहीं लिया है उसे देवों—दिव्यगुणों—की मित्रता प्राप्त नहीं होती।

इस जीवन रथ को निरन्तर गतिशील रखने के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण के अध्याय ३३ में एक अत्यन्त शिक्षाप्रद और प्रेरक संवाद आता है।

रोहित नाम का एक ब्रह्मचारी अपने आचार्य की सेवा में गया और उनसे प्रार्थना की कि जीवन में सफलता प्राप्ति के साधनों का मुझे उपदेश दें। वहाँ आचार्य कहते हैं—

चरैवेति चरैवेति—चलते रहो, चलते रहो।

(१) नानाश्रान्ताय श्रीरीस्तति शुश्रुम ।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा ।।
चरैवेति चरैवेति ।

हे रोहित ! हमने विद्वानों से यह सुना है कि परिश्रमी और गतिशील व्यक्ति के लिए ही कल्याण और सफलता है । जो बैठा रहता है, वह पापी होता है । ईश्वर गतिशील का ही मित्र होता है। इसलिए "चरैवेति चरैवेति"—चलो, निश्चय ही चलते रहो ।

(२) पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फल ग्रहिः ।
शेरेऽस्य सर्वः पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः । चरैवेति चरैवेति ।।

जिसकी टांगें गतिशील हैं, उसका आत्मा फल को प्राप्त करने वाला है। श्रमपूर्वक मार्ग पर चलनेवाले के सारे पाप रास्ते में ही समाप्त हो जाते हैं । इसलिए चलो ।

(३) आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वंस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चरति चरतो भगः । चरैवेति चरैवेति ।।

बैठे हुए का भाग्य बैठा रहता है, खड़े हुए का खड़ा हो जाता है । पतनशील का भाग्य सो जाता है, गतिशील का गतिमान् होता है । इसलिए चलो, निश्चय से चलो ।

(४) कविः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्तु त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ।। चरैवेति चरैवेति

जो सोया हुआ है, उसका वही कलियुग है, जो नींद त्याग रहा है उसका वही द्वापर है, जो खड़ा हो गया है, वह त्रेता युग में है और जो क्रियाशील है वही सतयुग में है । इस श्लोक में ऋषि ने चारों युगों की कैसी सार्थक और भावग्राही व्याख्या की है । इस लिए चलो, चलो ही ।

अब इस अन्तिम श्लोक में रोहित को कितने प्रभावशाली शब्दों में ऋषि गतिशीलता से होने वाले लाभ का वर्णन करते हैं—

(५) चरन् वै मधु विन्दति चरन्त्स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यं पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ।। चरैवेति चरैवेति

गतिशीलता से ही जीवन की मिठास को प्राप्त करता है और गतिशीलता से ही मीठे उदुम्बर (वटवृक्ष) के फल को खाता है । हे ब्रह्मचारी ! इस सूर्य को देख जो गतिशील होता हुआ कभी आलस्य नहीं करता है । इसलिए चलते रहो, चलते ही रहो ।

रथ के चक्र

इस जीवन रथ के चक्र क्या हैं, इसका उत्तर यजुर्वेद के ३४।५ मंत्र में दिया गया है—

ओ३म् ।। यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्त सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ।।

रथ के स्वामी आत्मा मे ऋग् (ज्ञान) यजुः (कर्म), साम (उपासना) रथ की नाभि में लगे आरों के समान स्थित है । जिसके आधीन चित्त सब इन्द्रियों सहित ओत-प्रोत है,वह मेरा मन सदा उत्तम विचारों वाला हो । अथर्ववेद १०।२।३२ के अनुसार—

ओ३म् । तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठते ।
तस्मिन् यद् यक्ष मात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ।।

इस शरीर रूपी रथ के भीतर तीन आरे प्रतिष्ठित हैं । इन आरों को जो धारण करने वाला है, उस आत्मा को ब्रह्मवेत्ता जानते हैं । यहाँ तीन आरों से अभिप्राय तीनों वेदों के विषय ज्ञान (ऋक्), कर्म (यजु), उपासना (साम) से है ।

रथ का स्वामी आत्मा

इस रथ का "रथी" स्वामी कौन है ? महाभारत, शान्तिपर्व में भीष्म पितामह युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं—

रथः शरीरं पुरुषस्य राजन्, आत्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।
तैरप्रमत्तः कुशाली सदश्वैर्दान्तैः, सुखं याति रथीव धीरः ।।

यह शरीर रथ है, आत्मा नियन्ता है, इंद्रियाँ घोड़े हैं, इन घोड़ों के साथ अगर, वे शान्त हैं तो प्रमाद रहित और धीर रथी आत्मा सुखपूर्वक यात्रा करता है ।

रथ रहित राम और विभीषण संवाद

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस लंकाकांड में एक आख्यान द्वारा इस रथ का अलंकार रूप में मनोग्राही वर्णन किया है ।

जिस समय श्रीराम रावण से युद्ध करने के लिए नंगे पैर और बिना किसी शस्त्र-अस्त्र ही उसकी ओर चल पड़े, तब विभीषण भय ग्रस्त हुआ श्री राम की सेवा में पहुँचा और बोला—

रावन रथी विरथ रघुवीरा । देखि विभीषन भयेऊ अधीरा ।।
अधिक प्रीति मन भा संदेहा । बंदि चरन कह सहित सनेहा ।।
नाथ न रथ नहिं तनु पदत्राना । केहि विधि जितब वीर बलवाना ।।

राम का उत्तर—ऐसा अजेय रथ लाओ

तब श्री राम ने विभीषन को ऐसा रथ लाने के लिए कहा जिसमें यह गुण हों—

सुनहु सखा कह कृपा निधाना । जेहि जय होइ सो स्यंदन आना ।।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्यसील दृढ़ ध्वज पताका ।।
वल विवेक दम परहित घोरे । क्षमा कृपा समता रजु जोरे ।।

ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म सन्तोष कृपाना ।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा। बर बिग्यान कठिन कोदण्डा ।।
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना ।।
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। येहि सम बिजय उपाय न दूजा ।।

अन्त में श्रीराम कहते हैं कि हे मित्र विभीषण!! इन उपर्युक्त गुणों से युक्त रथ जिसके पास होगा, उसे कोई शत्रु जीत नहीं सकेगा और वही इस भयंकर संसार में ऐसे रथ पर चढ़कर विजय प्राप्त कर सकेगा। हे मित्र! मेरे इन शब्दों को सुन लो—

सखा धर्ममय अस रथ जा के। जोत सकनहुँ कतहुँ रिपु ताके ।।

महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो वीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मति धीर।

श्रीराम द्वारा बताया गया ऐसा अजेय रथ, जो सदा गतिशील हो और जिसमें बैठा रथ का स्वामी आत्मा भी प्रतिक्षण जागरूक और सावधान हो, वही रथ यात्री को मोक्ष की ओर ले जाने में सफल होगा।

——

१७

(६) यात्रा निर्विघ्न समाप्त
यात्री की वापसी

जिस मन्त्र की व्याख्या पिछले तीन अध्यायों में की जा चुकी है (अथर्व १९।५४।१) उसके अन्तिम शब्द हैं—

स्वप्नम् मिमानः असुरस्य योनौ।

असुर भावों का पूर्णतः उन्मूलन करके और अपनी मोक्ष यात्रा को निर्विघ्न रूप से समाप्त कर यात्री अपने जीवन के स्वप्न अर्थात् आदर्शों की सम्पत्ति के साथ पुनः वहां आता है, जहां से उसने यात्रा प्रारम्भ की थी।

आसुरी भाव कौन से हैं, मोक्ष-यात्री के लिए जिनका पूर्णतः नाश आवश्यक है। गीता अध्याय १६ के श्लोक १, २ और ३ में दैवी सम्पत्ति का वर्णन करने के पश्चात् चौथे श्लोक में श्री कृष्ण आसुरी सम्पत्ति का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पद मासुरीम् ।।

आसुरी अर्थात् राक्षसी सम्पत्ति के छः रूप है, (दम्भ) छल, कपट (दर्प) दूसरों के प्रति हीनता और तिरस्कार की भावना (अभिमान) और अपने को बहुत बड़ा समझना (क्रोध) सहनशक्ति के अभाव में सीमा उल्लंघन करना (पारुष्य) कठोर व्यवहार (अज्ञान) वस्तु के ठीक रूप को न समझ उसे प्रतिकूल मानना और करना—श्री कृष्ण कहते है "निबन्धायासुरी मता" (१६।५) यह आसुरी सम्पत्ति बन्धन का हेतु होती है। इसी अध्याय के श्लोक २१ में श्री कृष्ण नरक के तीन द्वार बताते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।

काम, क्रोध और लोभ—तीनों आत्मा को गिराने वाले नरक के द्वार हैं, इस लिए इन तीनों का त्याग करे। गीता ३।३४ में राग और द्वेष को धर्म मार्ग के लिए डाकूरूप कहते हुए इनके वश में आने से बचने के लिए कहा गया है। इसी अध्याय के श्लोक ३६ में रजोगुण से पैदा होनेवाले काम और क्रोध को भस्म करने वाली बड़ी अग्नि और पापमय बताते हुए इन्हें शत्रु समझने का उपदेश दिया गया है। अध्याय ५ के श्लोक २३ में कहा गया है कि इस शरीर को छोड़ने से पूर्व जो काम और क्रोध से पैदा होने वाले वेग को सह सकता है वही योगी और सुखी पुरुष है। इसी अध्याय के २८वें श्लोक के अनुसार इच्छा, भय, क्रोध से जो रहित है, वही मुक्त हो सकता है। गीता के अध्याय १४ के श्लोक ७ से १३ तक रज और तम का वर्णन करते हुए राग (तृष्णा, प्रमाद, आलस्य, अज्ञान, निद्रा, लोभ, प्रवृत्ति, शम का अभाव, अप्रकाश, मोह इन सबको अन्धकार और मूढ़योनियों में ले जाने वाला कहा गया है। अध्याय १८ के श्लोक २४ से २८ तक राजस और तामस दुर्गुणों का वर्णन करते हुए, अहंकार, क्षय, मोह, शठ, आलस्य, विषाद, दीर्घसूत्रता, हठ, चंचलता, कुछ भी काम न करना (नैष्कृतिक) कर्मफल के लिए उत्सुकता, अपवित्रता, सदा हर्ष शोक में ग्रस्त—इन सबको आसुरी भावनाएँ कहा गया है।

छः पशु-पक्षियों के समान ६ दोष

वेद के निम्न मंत्र में मुख्यतः ६ आसुरी दोषों को छः प्रकार के पशु-पक्षियों से उपमा देते हुए नाश करने का आदेश दिया गया है—

ओ३म। उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्व यातुं मुतकोकयातुम् ।
सुपर्ण यातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ।। अथर्व० ८। ४। २

हे (इन्द्र) जीवात्मन् ! उल्लू, भेड़िया, कुत्ता, चिड़िया, गरुड़, और गीध की चाल को छोड़ दे और इन राक्षसी भावनाओं को पत्थर के समान कठोर साधन से नष्ट कर दे। इस मंत्र में जिन-पशु-पक्षियों का उल्लेख किया गया है, उनमें से प्रत्येक को एक-एक आसुरी प्रवृत्ति का प्रतीक मानकर उस दोष के उन्मूलन की शिक्षा दी गयी है।

(१) उल्लू की चाल

उलूकयातुं यह पक्षी अंधेरे को पसन्द करता है और सूर्य के प्रकाश से छिप कर बैठता है। इसी प्रकार आसुरी वृत्ति का व्यक्ति अज्ञान रूपी अन्धकार में ही

रहना चाहता है और ज्ञान के प्रकाश से अपने को दूर रखता है। उल्लू के सम्बन्ध में नीतिकार कहता है—

यद्यपि तरणेः किरणैः सकलमिदं विश्वमुज्ज्वलं विदधे।
तदपि न पश्यति घूकः पुराकृतं भुज्यते कर्म ॥

यद्यपि सूर्य के प्रकाश से सारा विश्व उज्ज्वल हो गया है उल्लू फिर भी, प्रकाश को नहीं देखता। यह पूर्वजन्म के कर्म का ही फल है।

जिस समय मुस्लिम आक्रान्ता इस देश में एक हाथ में तलवार और दूसरे में कुरान लेकर आये और भारत के बृहत् पुस्तकालयों को जलाकर हमाम का पानी गर्म करने लगे, उस समय ज्ञान के भण्डार इन पुस्तकों को यह कहकर आग लगाई कि यदि इन पुस्तकों में कुरान के विरुद्ध है, तब इनका नाश करना ही होगा। और यदि कुरान के अनुकूल हैं, तो सब कुछ कुरान में विद्यमान है—इसलिए अन्य किसी पुस्तक की क्या आवश्यकता है? कई पुस्तकालय छः छः मास तक जलते रहे। यह मुस्लिम आक्रान्ता जिस जिस देश में भी गये, वहाँ पुस्तकालयों, विद्यालयों को नष्ट भ्रष्ट करने और विद्वानों, ज्ञानियों की निर्मम हत्या करने में ही इस्लाम का कल्याण समझा। क्या यह उल्लू की तरह ज्ञान और प्रकाश से द्वेष और अन्धकार से प्रेम नहीं है? इसी प्रकार कई मनुष्य अपने मस्तिष्क की खिड़कियों-दरवाजों को बन्द कर अज्ञान अन्धकार में ही रहना पसन्द करते हैं।

[२] भेड़िये की चाल

शुशुलूक यातुम्—भेड़िया बड़ा क्रूर और द्वेषी होता है। ईर्ष्या-द्वेष एक ही आसुरी वृत्ति के दो पहलू है। द्वेष का अभिप्राय दूसरे की उन्नति को देख अपने हृदय में जलन पैदा करना है। सन्ध्या के मनसा परिक्रमा के ६ मन्त्रों में चारों दिशाओं और ऊपर नीचे-प्रभु का ध्यान करते हुए प्रत्येक मंत्र के अन्त में यही प्रार्थना की गई है कि—

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।

जो हम से द्वेष करता है अथवा जिस से हम द्वेष करते हैं—दोनों को हे प्रभु! तुम्हारे न्याय के अर्पण करते हैं। जिस समय दोनों प्रभु के न्याय के अर्पित हो गये, उस समय द्वेष की भावना कहाँ रह सकती है? ईर्ष्या और द्वेष के वशीभूत मनुष्य पहले अपनी अनायास प्राप्त सफलता से बड़ा प्रसन्न होता है पर यह खुशी अग्नि की इस लपट के समान होती है जो पड़ोसी के घर को जलते देखने से पैदा होती है। द्वेषी व्यक्ति यह भूल जाता है कि पड़ोसी के घर में लगी आग की लपटें उसके घर को भी भस्मसात् कर सकती हैं। ईर्ष्या-द्वेष खाज जब के समान पहले तो मजेदार लगती हैं, पर वही खाज जब कोढ़ का रूप धारण कर लेती है तब पीड़ा होती है। मंथरा दासी द्वारा कैकेयी के हृदय में जब ईर्ष्या की अग्नि भड़काई गयी, तभी राम को युवराज पद का त्याग कर वनवास जाना पड़ा। महाभारत के घातक युद्ध का एक-मात्र कारण पारिवारिक ईर्ष्या ही तो थी। तब से लेकर सदियों तक भारत देश इसी भयंकर रोग के फलस्वरूप विदेशियों का गुलाम रहा। नीतिकार कहते है—

(२) दिवा पश्यति नोलूकः काकः नक्तं न पश्यति ।
अपूर्वः कोऽपि ईर्ष्याऽन्धः दिवा नक्तं न पश्यति ॥

उल्लू दिन में नहीं देखता, कौवा रात को नहीं देखता पर यह ईर्ष्यालु व्यक्ति ऐसा है जो दिन-रात दोनों में ही नहीं देखता।

(२) काकः पक्षिषु चाण्डाल, स्मृतः पशुषु गर्दभः ।
नराणां कोऽपि चाण्डालः स्मृतः सर्वेषु ईर्ष्यकः ।।

पक्षियों में कौआ चाण्डाल है, पशुओं में गधा। मनुष्यों में जो चाण्डाल है ईर्ष्यालु है।

(३) कुत्ते की चाल

श्वानयातुम्—कुत्ता बड़ा स्वामी भक्त पशु माना जाता है। उसकी स्वामी भक्ति के कई सच्चे उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। कुत्ते की घ्राण शक्ति बड़ी तीव्र होती है। आज वैज्ञानिक युग में कुत्ते की इस घ्राण शक्ति की सहायता से पुलिस कई बार अपराधियों की खोज करने और पकड़ने में सफल हो जाती है। कुत्ता चुस्त और वफादार चौकीदार है। आजकल कुत्तों की नस्ल सुधारने के अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं। कुत्तों की सहज बुद्धि की परख के लिए "कुत्ता-प्रदर्शनी" नगरों में आयोजित होती रहती है।

फिर भी इस मंत्र में कुत्ते की चाल को आसुरी वृत्ति में क्यों गिना गया है? इतने गुणों के होते हुए भी कुत्ते में दो बड़े दोष हैं। पहला, स्वजाति विद्रोह। कुत्ता दूसरे कुत्ते को देख अवश्य भौंकेगा और उसका भरसक पूरा विरोध करेगा। दूसरा दोष—चाटुकारिता है। अपने मालिक के सामने पेट नंगा कर लेट जाएगा और उसके पैर चाटेगा। नीतिकार के शब्दों में—

लांगूल चालनमधश्चरणावपातनम् ।
भूमौ निपत्य वदनोदर दर्शनं च ।।

पूंछ हिलाते हुए पैरों के पास गिर जाना और भूमि पर लेट अपना नंगा पेट दिखाना यह चाटुकारिता के रूप हैं। कुत्ते की पूंछ हमेशा टेढ़ी रहती है। कहावत है, १२ साल तक उसकी पूंछ को बांस की नली में रख सीधा किया गया पर नली के हटाते ही फिर टेढ़ी की टेढ़ी ही पाई गई। इसी प्रकार दुराग्रही पुरुष लाख समझाने पर भी दुराग्रह नहीं छोड़ता।

कुत्ते के सदृश इन आसुरी प्रवृत्तियों का त्याग करना चाहिए।

[४] चिड़े की चाल

कोकयातुम्—कोक कहते हैं चिड़े को। यह बड़ा कामातुर होता है। कामवासना एक भयंकर आसुरी वृत्ति है। गीता १६। २१ में काम, क्रोध और लोभ—इन तीनों को नरक का द्वार कहा गया है। काम के विषय में नीतिकार कहते हैं—

कामातुराणां न भयं न लज्जा ।
अन्धी करोमि भुवनं वधिरी करोमि जगत् ।।

काम में फंसे व्यक्ति के लिए भय और लज्जा—दोनों का नाश हो जाता है। काम कहता है कि "जो मेरा शिकार बन गया, उसके लिए संसार अन्धा और बहरा हो जाता है।" कामातुर व्यक्ति अपनी क्षणिक वासना की पूर्ति के लिए नीच से नीच उपाय का अवलम्बन करने में भी संकोच नहीं करता।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में काम का तीसरा स्थान है और मोक्ष से पहले है, तब काम की इतनी निन्दा क्यों? इसका उत्तर यह है कि यहाँ काम का अर्थ शुभ इच्छाओं की पूर्ति है। गीता के दूसरे अध्याय में "स्थितप्रज्ञ" का लक्षण बताते हुए "काम" शब्द का प्रयोग इच्छा के लिए ही किया गया है। मनुस्मृति के निम्न श्लोक में भी 'काम' शब्द का प्रयोग इच्छा के लिए ही हुआ है—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः । मनु० २। २

अत्यन्त काम अर्थात् इच्छा का होना प्रशंसनीय नहीं है और न ही इच्छा का सर्वथा अभाव उचित है क्योंकि जो कामना रहित है, वह तो कोई भी क्रिया नहीं कर पाता। मुण्डक उपनिषद् ३।२।२ के निम्न श्लोक में भी "काम" का प्रयोग इच्छा के लिए हुआ है—

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।

कामनाओं को ही मानता हुआ जो-जो इच्छा करता है, वह इन इच्छाओं के फलस्वरूप उस उस योनि में ही जाता है।

गृहस्थ आश्रम में दाम्पत्य प्रेम का नाम भी काम है। यदि यह दाम्पत्य प्रेम न हो तो सन्तान कैसे होगी? पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध से ही सन्तान का जन्म होता है। इस पारस्परिक सम्बन्ध को काम ही कहा जाता है। इसकी भी जीवन में आवश्यकता है।

पर यहाँ "कोक" पक्षी के उदाहरण से जिस काम को त्याज्य और गर्हित बताया गया है, वह काम के उस स्वरूप का नाम है जो "वासना" बन मनुष्य को अमर्यादित कर देती है। इसे "कामातुरता" अथवा "कामवासना", "विषयभोग" मैथुन और व्यभिचार भी कहा जाता है। गीता ३।३८ में इस काम का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—

धूमेनाव्रियते वह्नि र्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेना वृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।

जिस प्रकार धुआं आग को घेर लेता है, जिस प्रकार आईने पर मिट्टी पड़ जाती है, जिस प्रकार गर्भ उल्व (हलके नस तन्तुओं) से लिपटा होता है, इसी प्रकार कामरूप भयंकर अग्नि से यह मन आक्रान्त हो जाता है। इसीलिए काम को संस्कृत में "मनसिज" और "मन्मथ" कहा जाता है, अर्थात् मन से पैदा होने वाला और मन को मथ देने व सर्वरूप से आक्रान्त देने वाला। आज की बोल चाल में इसे अंग्रेजी के "सेक्स" शब्द से भी अभिव्यक्त किया जाता है। इस मंत्र में इसे ही त्याज्य कहा गया है।

[५] गरुड़ की चाल

सुपर्णयातुम्—गरुड़ को अपने "पक्षीराज" और सुन्दर होने का अभिमान होता है। अभिमान का अभिप्राय है, अपने वास्तविक स्वरूप को भूल स्वयं को बहुत बड़ा समझना। इसमें दूसरों के प्रति हीनता और घृणा की भावना छिपी होती है। नीतिकार के शब्दों में—

ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशंकितः।
पर भाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः ॥

दूसरों के प्रति ईर्ष्या और घृणा करने वाला, असंतुष्ट, क्रोधी, सदा सन्देह करने वाला और दूसरों की कृपा पर ही जीने वाला—यह छः प्रकार के व्यक्ति सदा दुःख प्राप्त करते हैं। अहंकार और क्रोध का अटूट सम्बन्ध है। जिस समय अहंकारी की इष्ट सिद्धि नहीं होती, तब वह क्रोध से आग बबूला हो अनापशनाप काम करने लगता है।

अहंकार कई प्रकार का है। जन्म, कुल, जाति, परिवार, देश, विद्या, रंग रूप इत्यादि से सम्बद्ध अहंकार मानव का अधःपतन कर देता है। हिन्दुओं में सवर्णों को अपनी तथा-कथित उच्च जाति के अभिमान का फल यह हुआ कि तथाकथित निम्न वर्ण के शूद्र इत्यादि के प्रति घृणा और छुआछात के भाव उग्र हो गये। इन निम्न वर्ण वालों पर सवर्णों ने घोर अत्याचार सदियों तक किये। परिणामस्वरूप, उनमें से अधिकांश विधर्मी हो गये। अपने ही अंग कट जाने से हिन्दू जाति कई टुकड़ों में बंट आज निर्बल हो गयी है। रंग का भी अभिमान आज विश्व के कई देशों में है। अमेरिका में काले नीग्रो को गोरे अमेरिकी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। दक्षिण अफ्रीका में काले रंग के अफ्रीकी और एशियाई मूल अधिकारों से भी वंचित है। विद्या के अभिमान में आकर विद्वान् एक दूसरे को अपमानित करने का प्रयत्न करते रहते है। विद्वानों की इस फूट से देश गड्ढे में गिरा जाता है। रूप और धन का अभिमान भी कम नाशक नहीं होता। जिस समय द्रौपदी सहित पांडव दूसरे राजसूय यज्ञ के बाद हिमालय की यात्रा करने लगे, उस समय सबसे पहले द्रौपदी का हिमपात से शरीरान्त हो गया। अर्जुन ने युधिष्ठिर से पूछा कि 'ऐसी बुद्धिमती और धर्मनिष्ठ देवी का सबसे पहले देहपात क्यों हुआ" तब युधिष्ठिर ने कहा "द्रौपदी को अपने रूप का बड़ा अभिमान था।" मुगल इतिहास में नूरजहाँ ने अपने सौन्दर्य के गर्व में बादशाह जहाँगीर को सर्वथा बेकार ही नहीं कर दिया था, अपितु मुगल राज्य को भी पतनोन्मुख कर दिया। धन के अभिमान में आकर मनुष्य अपने आप को बड़ा शक्ति सम्पन्न समझने लगता है पर यह भूल जाता है कि बड़े से बड़े धनाढ्य के पास भी लक्ष्मी सदा नहीं रहती। यह तो बड़ी चंचल है। नीतिकार कहते हैं—

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीत मेतद् ज्ञानाय दानाय रक्षणाय च ॥

अभिमानी के पास विद्या विवाद के लिए, धन मदमस्ती के लिए और बल दूसरों को पीड़ा देने के लिए होते हैं। पर सज्जन के पास विद्या ज्ञान के लिए, धन दान के लिए और शक्ति निर्बलों की रक्षा के लिए होती है।

[६] गीध की चाल

गृध्रयातुम्—गीध बड़ा लालची और लोभी होता है। गीध ऊँचा उड़ सकता है पर उसकी दृष्टि भूमि पड़े मांस पर ही होती है। वृक्ष की चोटी पर भी बैठ वह नीचे शिकार की ताक में ही रहता है।

लोभः पापस्य कारणम्।

लोभ पाप का मूल है। नीतिकार कहते हैं—

नास्ति काम समो व्याधिर्नास्ति लोभ समो रिपुः।
नास्ति ईर्ष्या समो वह्नि र्नास्ति ज्ञानात्परं सुखम्॥

काम के सदृश रोग नहीं, लोभ के सदृश शत्रु नहीं, ईर्ष्या समान कोई अग्नि नहीं और ज्ञान से अधिक कोई सुखदायक नहीं। लोभी और लालची सदा अपने ही स्वार्थ को देखता है, दूसरे के हानि-लाभ नहीं। बिल्ली रसोई में पड़े दूध को पीने के लिए जाती है पर यह नहीं देखती कि हाथ में लाठी लिए घर का मालिक उसके सिर पर खड़ा है। ऐसे ही लोभी तात्कालिक लाभ को ही देखता है, उसके भयंकर परिणामों को नहीं समझता। गीता में श्री कृष्ण ने नरक के तीन द्वारों में एक लोभ को भी कहा है।

मानव पाँचों दोषों का पुतला

इन पशु पक्षियों द्वारा इस मंत्र में आसुरी वृत्तियों से बचने की शिक्षा दी गयी है। एक नीतिकार ने निम्न श्लोक द्वारा अन्य पशु-पक्षियों का वर्णन कर मनुष्य को राक्षसी मार्ग का त्याग करने की चेतावनी दी है—

कुरंग मातंग पतंग भृंग मीना हताः पंचभिरेव पंच।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेव्यते पंचभिरेव पंच॥

हिरण कान में पड़ी ध्वनि से, हाथी हथिनी के साथ स्पर्श से, पतंगा दीपक के रूप से, भ्रमर फूल की सुगंध से, मछली जिह्वा के स्वाद से—ये पांचों प्राणी केवल एक एक इन्द्रिय के विषय की गुलामी से मारे जाते हैं पर हे प्रमादी पुरुष! तू तो पांचों विषयों का एक दम दास है। तेरी क्या दशा होगी, क्या तूने कभी यह सोचा?

स्वप्नं मिमानः

अथर्ववेद के इस मत्र १६/५३।१ के दूसरे पद में अन्तिम शब्द "असुरस्य योनौ" की हमने आसुरी वृत्तियों के स्वरूप और उनके पूर्णतः उन्मूलन के उपायों की दृष्टि से व्याख्या की। अब इस मंत्र के अन्तिम शब्द से सम्बद्ध (**स्वप्नं मिमानः**) पर विचार करना है। "विद्वान्" शब्द तो पहले आ ही चुका है। इसी "विद्वान्" के लिए वेद कहता है कि जिसने यात्रा समाप्त कर ली है, अब वह अपने उस प्रारम्भिक स्थान को वापस आ रहा है जहां से यात्रा प्रारम्भ हुई थी और यह आत्मा का अन्तिम चरण है, उस समय भी वह "विद्वान्" (**स्वप्नं मिमानः**) सम्पूर्ण यात्रा के उदात्त विचारों के अखिल प्रवाह को हृदयंगम कर ले।

स्वप्न—पुनः मोक्ष प्राप्ति का

"स्वप्न" का अभिप्राय है जीवन यात्रा का वह लक्ष्य—मोक्ष प्राप्ति—जिसे यात्री अभी प्राप्त कर पुनः इस लोक में उत्कृष्ट मानव देह लेकर आया है, उसका विस्मरण न करे। मोक्ष की अवधि समाप्त कर जब पुनः मानव देह धारण करे, तब फिर मोक्ष प्राप्ति के लिए ही कृत संकल्प हो। यही उसके जीवन का "स्वप्न" हो। केवल एक बार मोक्ष प्राप्त कर ही अपने कर्त्तव्य की इति श्री न समझले किन्तु "**स्वप्नं**" गत जीवन की वैचारिक भूमि की पूँजी के साथ पुनः इस नये जन्म में भी "**मिमानः**" मोक्ष पद की ओर अग्रसर होता रहे।

कुछ महामानवों के स्वप्न

उत्तम पुरुष वही है जो सदा अपने जीवन में उदात्त लक्ष्य रखता है। यह लक्ष्य ही उसके जीवन का स्वप्न होता है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उनके जीवन में कुछ स्वप्न थे, जिन्हें वह मूर्त्तरूप देने के लिए अन्तिम श्वास तक प्रयत्न करते रहे। श्री कृष्ण का स्वप्न था कि जब-जब भी धर्म का ह्रास हो और अधर्म का अभ्युत्थान हो, तब-तब मैं संसार में आऊं। किस लिए—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुःष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ गीता ४। ८

श्रीकृष्ण के तीन स्वप्न थे जिन्हें पूरा करने के लिए वह बार-बार नर देह प्राप्त करना चाहते थे, पहला, उत्तम पुरुषों की रक्षा, दूसरा पापियों का विनाश और तीसरा रचनात्मक कार्य, अर्थात् धर्म की स्थापना। व्यास मुनि का स्वप्न था कि—

भवन्तः बहुलाः सन्तु वेदमयं विस्तार्यताम्। (महाभारत)

हे शिष्यो ! तुम्हारी संख्या बढ़े जिससे तुम इस वेद का विस्तार कर सको। महात्मा बुद्ध का स्वप्न था प्राणिमात्र के प्रति करुणा और दया की भावना के साथ अहिंसा की प्रतिष्ठा हो और पवित्र जीवन हो। शंकराचार्य का स्वप्न था कि भारत से नास्तिक बौद्धमत का उन्मूलन हो और यहाँ पुनः आस्तिक धर्म की स्थापना हो। महर्षि दयानन्द का स्वप्न था कि देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में सत्य सनातन वैदिक धर्म का प्रचार हो, यह भारत स्वतन्त्र हो, पुनः अपने उस गौरव को प्राप्त करें जिसे मनु ने इन शब्दों में कहा है—

एतद् देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ २। २०

इस भारत भूमि से उत्पन्न हुए श्रेष्ठ विद्वान् सम्पूर्ण भू-मण्डल में जाकर वेद अनुकूल सदाचार और धर्म का प्रचार करें। महर्षि दयानन्द इसे ही "आर्यों का अखण्ड सार्वभौम साम्राज्य" नाम से अपना स्वप्न घोषित कर गये हैं। गांधीजी का स्वप्न था कि "भारत में रामराज्य हो"। श्रीअरविन्द का स्वप्न था "मानव अधिक से अधिक उच्चतर चेतना की ओर बढ़ने वाला हो।"

वेद कहता है—

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय॥ अथर्व० १८। ६३।१२

हे विद्वान् यात्री ! तू खड़ा हो, जाग जा और सब दिव्यगुणों को यज्ञ के विश्व कल्याण रूप सूत्र में गूँथकर दूसरों तक भी वह ज्ञान पहुँचा।

पाठक ! क्या आपका कोई स्वप्न है ?

पाठक ! आप में से प्रत्येक यात्री हैं। सोचो ! क्या आप यात्रा के इन छः अंगों में से किसी एक की भी पूर्ति कर रहे हैं ? क्या आपके जीवन का कोई स्वप्न है ? क्या दिव्य विभूतियों और महापुरुषों के स्वप्न को साकार रूप देने में आपका तनिक भी योगदान है ? कहीं ऐसा न हो—

बड़े शौक से सुन रहा था जमाना।
तुम्हीं सो गये दास्तां कहते कहते ॥

——

१७

मानव जीवन की ज्वलन्त समस्या

पाप-पुण्य मीमांसा

वह प्रबल प्रेरक शक्ति ?

महाभारत शान्ति पर्व में युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनाऽपि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

मैं धर्म जानता हूँ पर उस ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं होती, अधर्म जानता हूँ पर उस ओर से निवृत्ति नहीं होती। हृदय में कोई ऐसी शक्ति उपस्थित है, जो मुझे जैसा प्रेरित करती है, वैसा ही मैं करता हूँ।

गीता के ३।३६ में अर्जुन का भी श्रीकृष्ण से लगभग ऐसा ही प्रश्न है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

हे कृष्ण ! वह कौन-सी शक्ति है जिसकी प्रेरणा से इच्छा न करता हुआ भी पुरुष बलपूर्वक किसी द्वारा नियुक्ति किये हुए के समान पाप का अवलम्बन करता है।

पाप की उत्पत्ति की समस्या—सार्वभौम

पाप का उत्पत्ति स्थान क्या है ? मानव पाप क्यों करता है ? पाप से बचने के क्या उपाय हैं ? पाप का स्वरूप क्या है इत्यादि कुछ प्रश्न ऐसे है जो किसी एक देश व जाति से सम्बद्ध नहीं किन्तु सार्वभौम और सार्वजनीन हैं। आज से कई हजार वर्ष पूर्व युधिष्ठिर और अर्जुन ने प्रश्न पूछकर इस शंका की व्यापकता को ही स्वीकारा है। विश्व के सब धर्मों, सम्प्रदायों और मजहबों ने इस प्रश्न का उत्तर अपने-अपने दृष्टिकोण से देने का प्रयास किया है। ईसाइयत, इस्लाम, यहूदी इत्यादि सेमेटिक मजहबों ने इस प्रश्न का समाधान, लगभग एक ही ढंग से किया है। उनकी मजहबी किताबों में उल्लिखित कहानी के अनुसार, खुदा ने जब दुनियाँ के शुरू में आदम को पैदा किया तो वह बिल्कुल बेगुनाह था। बाइबिल के प्रारम्भ में ही लिखा है कि खुदा ने आदम को एक वृक्ष का फल खाने से रोक दिया था। आदम की एक पसली से ही "हौआ" (औरत) को उसने पैदा किया। दोनों सर्वथा नग्न थे। तब वहां शैतान आया। उसने आदम को वृक्ष का फल खाने के लिए उकसाया। आदम ने जब फल खाया, तब उसे अपने को नंगा देख शर्म आयी। उसने और "हौआ" (औरत) ने पत्तों से अपने को ढाँप लिया। इस शैतान की सिखावट से ही दुनियाँ में गुनाह की शुरूआत हुई। खुदा ने गुस्से में अब शैतान को शाप दिया कि "तू साँप बन जा और सदा तेरा सिर कुचला जाएगा।" बस, यहीं से दुनियाँ में शैतान के भड़काने से पाप का आरम्भ हुआ। इन सेमेट्रिक मजहबों के अनुसार, ईसा, मूसा, मुहम्मद इत्यादि पैगम्बर सबके पाप अपने सिर पर ले खुदा के पास चले गये। इन पैगम्बरों पर यकीन ले आओ, तुम्हारे सब गुनाह माफ हो जाएंगे और तुम्हें इन पैगम्बरों की सिफारिश पर कयामत के दिन बहिश्त मिल जाएगा, नहीं तो दोजख में जाना पड़ेगा।

सेमेट्रिक मजहबों में शैतान ही कारण है

ब्रिटेन के एक प्रमुख इसाई विद्वान् डा० फिलन्ट ने वहाँ एक विश्वविद्यालय में "आस्तिकवाद" पर व्याख्यान दिए जो "थीइज्म" (आस्तिकवाद) के नाम से पुस्तकरूप में प्रकाशित हैं। इसमें डा० फिलन्ट ने प्रबल युक्तियों से ईश्वर सिद्धि की हैं। पुस्तक पर्याप्त प्रचलित और विख्यात हैं। डाक्टर ने अपने व्याख्यानों के बाद पूछे गये प्रश्नों के उत्तर दिये। यह प्रश्न-उत्तर भी इस पुस्तक में सम्मिलित हैं। वहाँ एक प्रश्न इस विद्वान् से पूछा गया कि "संसार में पाप का उद्भव कहाँ से हुआ और इससे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है ? डाक्टर का उत्तर था कि "यह प्रश्न मत पूछो क्योंकि इसका मेरे पास सिवाय इसके कोई उत्तर नहीं कि ईसा पर विश्वास ले आओ। शैतान ही पाप का जिम्मेदार है। ईसा हम सब के पापों को लेकर सूली पर चढ गया है। उस पर विश्वास लाने से पाप से छुटकारा मिल सकेगा।" क्या इस उत्तर से पाप की समस्या हल हो जाती है ? अगर ईसा सारे मानव समूह के पाप को लेकर सूली पर चढ़ गया तो पाप सारे संसार में, विशेषतः ईसा के अनुयायियों में, इतने भयंकर रूप से क्यों बढ़ रहा है ?

आज के पादरी इस "पाप" को "मूलगत पाप" (ओरिजिनल सिन) का नाम देते हैं। ब्रिटेन के प्रसिद्ध इतिहासकार, साहित्यिक और लेखक डा० फिलिप टायनबी इसाइयत के इस "मूलगत पाप" के सिद्धान्त को "बेईमानी का

और मरा हुआ सिद्धान्त कहते हैं और यह सिद्धान्त मनुष्य को गिरावट (फाल) की ओर ही प्रेरणा करनेवाला है।" ऐसा टायनबी साहब कहते हैं—

(हिन्दुस्तान टाइम्स, दिल्ली २०।६।६५ में डा० फिलिप टायनबी का लेख)

शैतान कहाँ है, क्या करता है और इतना शक्तिशाली कैसे हो गया कि खुदा के बन्दों के सिर चढ़ उन से पाप कराता है—यह कोई नहीं जानता। नयी-पुरानी बाइबिल, कुरान इत्यादि मजहबी किताबों में इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं है। उर्दू के एक शायर के शब्दों में सत्य तो यह है कि—

हंसी आती है मुझे इस हजरते इन्सान पर।
कारे बद तो खुद करे तोहमतधरे शैतान पर।

वैदिक धर्म का युक्तियुक्त समाधान

मानव की इस गम्भीर समस्या का समुचित और युक्तिसगंत समाधान वैदिक धर्म ही कर सकता है। चतुर चिकित्सक रोग का उपचार करने से पहले रोग का निदान पता लगाता है। बिना निदान के जाने औषधि कुछ लाभ नहीं कर सकती। पाप का निवारण करने के लिए पहले इसके कारण की खोज करनी होगी। फिर पाप से छुटकारा सहज ही हो जायेगा। गीता २।६२ में पाप के उद्गम स्थान का वैज्ञानिक पद्धति से निम्न प्रकार वर्णन किया गया है :—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कमात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धि नाशो बुद्धिनाशात् प्राणश्यति॥

विषयों का ध्यान करने से मनुष्य का उनके साथ लगाव हो जाता है। इस लगाव के फलस्वरूप उन विषयों की पूर्ति की कामना होती है। जब कामना पूरी नहीं होती, तब क्रोध पैदा होता है। क्रोध में आया व्यक्ति अपने आपको भूल जाता है। इसका परिणाम बुद्धि का नाश और बुद्धि के विनाश से मानव पाप के गड्ढे में गिर नष्ट हो जाता है।

स्पष्ट है, पाप का मूल मन में विषयों का ध्यान और चिन्तन ही है। इसलिए पाप के बीज को फलने-फूलने का अवसर देने से पहले ही मन में उठने वाली विचार तरंगों पर अंकुश लगाना होगा। मन में जैसे विचार उठेंगे, वाणी में वैसे ही प्रकट होंगे, जैसा वाणी से बोलेगा, वैसा ही उसका आचरण होगा। शास्त्रकार इसी लिए कहते हैं—

यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति. यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति यत् कर्मणा करोति तदभि सम्पद्यते।

मन कैसे वश में हो ?

जैसा मन में ध्यान करेगा, वैसा वाणी से कहेगा, जैसा वाणी बोलेगी, वैसा ही उसका कर्म होगा और जैसा कर्म करेगा, वैसा ही अच्छा व बुरा हो जाएगा। मन

वश में होगा, तब पाप के विचार उत्पन्न नहीं होंगे। मन कैसे वश में हो ? यही समस्या अर्जुन के सम्मुख भी आयी। वह श्रीकृष्ण से पूछता है—महाराज ! यह जो योग का मार्ग आपने बताया है, इसमें मेरा स्थित होना कठिन है क्योंकि—

चंचलं हि मनः कृष्णय प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ गीता ६। ३४

हे कृष्ण ! यह मन तो बड़ा चंचल, मथ देने वाला, बलवान् और दृढ़ है। वायु को जिस प्रकार काबू करना कठिन है, इसी प्रकार मन का निग्रह भी अति दुष्कर है। श्रीकृष्ण इसका उपाय बताते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ६। ३६

हे अर्जुन ! इसमें कोई सन्देह नहीं कि मन चंचल हैं और उसे वश में लाना बड़ा कठिन हैं, पर अभ्यास और वैराग्य—इन दो उपायों से काबू किया जा सकता है।

अब इतना तो सर्वथा स्पष्ट हो गया कि पाप का उद्भव विषयों का ध्यान करने से होता है, ध्यान और चिन्तन मन के काम है, इसलिए पाप का बीज मन में ही फलता-फूलता है। अतः मन को वश में करना होगा। पर मन बड़ा चंचल है, तब इसे वश में लाने के लिए दो उपाय हैं।

अभ्यास और वैराग्य

अभ्यास और वैराग्य का क्या अभिप्राय ? इस का उत्तर योगदर्शन के आरम्भ में प्रथम पाद में ही पतंजलि ऋषि देते हैं।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। १। १३

जिस लक्ष्य को प्राप्त करना है, उसमें दृढ़ता से स्थिर रहने का नाम ही "अभ्यास" है। इस अभ्यास पद्धति के तीन उपाय अगले ही सूत्र में बताये गये हैं—

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १। १४

अभ्यास की भूमि को दृढ़ करने के लिए पहला उपाय है—दीर्घकाल अर्थात् श्रेष्ठ मार्ग पर चलने के लिए जो संकल्प किया जाए वह अल्पकाल का न होकर लम्बे से लम्बे समय तक के लिए हो। दूसरा उपाय—वह निरन्तर चलने वाला हो, अर्थात् वह लक्ष्य हर क्षण, हर पल मानव के सम्मुख रहे। तीसरा उपाय—उस लक्ष्य और प्राप्ति के साधनों में साधक की पूरी श्रद्धा, विश्वास और आस्था हो। ऐसा न हो कि साधक इसे सिर पर बड़ा बोझ समझ केवल मात्र उसे खींच ले जाना ही अपना कर्त्तव्य समझे। अगर व्यक्ति को स्वयं ही अपने लक्ष्य और साधनों में अविचल श्रद्धा, विश्वास, सत्कार की भावना नहीं हैं, तब वह कभी अभ्यास में सफल नहीं हो सकेगा।

मन को वश में करने का दूसरा उपाय वैराग्य है। इसका लक्षण योगदर्शन, समाधिपाद में निम्न है—

दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् ॥

१।१५

मानव देह में ५ ज्ञानेन्द्रियाँ और ५ कर्मेन्द्रियाँ हैं। कर्मेन्द्रियाँ—हाथ, पैर, जिह्वा दो उपस्थ (मूत्र और शौच)—ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के ही आधीन हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—नेत्र, नासिका, वाक्, कर्ण, त्वक्, हैं। संसार के विषयों की ओर सदा भागने वाली यह पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं। जिस समय ये इन्द्रियाँ संसार के विषयों के प्रति तृष्णा रहित हो मन के वश में हों, वही वैराग्य का रूप है। जिस समय मन इन्द्रियों के आधीन हो विषयों के पीछे भागता रहता है, तभी वह पाप में प्रवृत्त होता। इसलिए धैर्यपूर्वक बुद्धि के द्वारा धीमे-धीमे मन को इन्द्रियों के विषय से बचाए। प्रतिदिन यह पड़ताल करे कि मेरा मन किस-किस विषय की ओर भागता है, काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार इत्यादि। फिर प्रत्येक विषय की ओर से निरंतर अभ्यास करता हुआ मन को संयम में कर आत्मा के आधीन करे। जिस समय इन्द्रियाँ मन के आधीन, मन आत्मा के आधीन और आत्मा परमात्मा के आधीन, निरंतर रहेगा उस समय साधक पुण्य मार्ग का पथिक होगा। जिस समय इसके विपरीत स्थिति होगी, अर्थात् आत्मा मन के आधीन, मन इन्द्रियों के आधीन और इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हो विषयग्रस्त होंगी—उस समय पाप का तीव्र प्रवाह पथिक को विनाश के समुद्र में डुबो देगा। इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥

मन ही मनुष्य के बध और मोक्ष का कारण है। आत्मा और इन्द्रियों के बीच मन है। इसे संयम में करने के लिए सदा आत्मा के आधीन करना चाहिए। मन को वश में करने का अमोघ उपाय "मन" शब्द में ही अन्तर्निहित है। "मन" शब्द उल्टा है "नम"। अर्थात् "मन" को प्रतिदिन उलट कर "नम" अर्थात् नमस्कार-पूर्वक झुकाओ, आत्मा और परमात्मा के सम्मुख। जिस समय भक्तिभावना और दृढ़ता से यह मन नम्र होगा, झुकेगा, उस समय सहज ही वश में आ जाएगा। इसीलिए संध्या के अंतिम मंत्र में—

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च, नमः शंकराय च
मयस्कराय च, नमः शिवाय च शिवतराय च (यजु १६।४१)

प्रभु के प्रति एक "नम" नमस्कार के साथ उसके दो-दो गुणों का संकेत करते हुए तीन बार नमस्कार किया गया है। महर्षि दयानंद "आर्याभिविनय" में इसका अर्थ करते हुए शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से लिखते हैं कि "नम" शब्द यज्ञ का ही सूचक है।

चित्त में दो प्रकार की नदी

योगदर्शन के जिन दो सूत्रों की व्याख्या हमने ऊपर की, उनका भाष्य करते हुए व्यास मुनि ने अभ्यास और वैराग्य का जो विशद और साभिप्राय स्वरूप बताया है, उसका उल्लेख यहाँ करना आवश्यक है। इससे इन दोनों उपायों की इयत्ता साधक के लिए विशेष सहायक होगी। व्यास मुनि कहते हैं—

"चित्त नदीनाम उभयतो वाहिनी, या वहति कल्याणाय, वहति पापाय च। यातु कैवल्य प्राग भारा विवेक विषय निम्ना सा

कल्याण वहा। संसार प्राग् भारा अविवेक विषय निम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषय स्रोतः खिली क्रियते विवेक दर्शनाभ्यासेन विवेक स्रोत उद्घाट्ते ।।

चित्त एक नदी के समान है जो दो ओर बहने वाली है, कल्याण की ओर बहती है और पाप की ओर भी। जिस नदी का प्रवाह विवेक की प्रेरणा से कैवल्य (मोक्ष) दिशा की ओर है, वह तो कल्याणरूपा नदी है। जिस नदी का प्रवाह विवेक के अभाव की प्रेरणा से संसार के विषयों की ओर है, वह पाप रूपा नदी है।

यहाँ वैराग्य के मार्ग का अवलम्बन करने से विषय का उद्गम स्रोत सूख जाता है, और विवेक तथा आत्मदर्शन के अभ्यास से विवेक का स्रोत खुल जाता है।

व्यास मुनि के इस उदाहरण सहित संदर्भ से पाप-पुण्य की, थोड़े शब्दों में ही, प्रशस्त मार्गनिर्देशक व्याख्या हो जाती है।

मन का लक्षण और स्वरूप

मन को संयम में लाने के लिए उसके स्वरूप को समझ लेना चाहिए। किसी चंचल वस्तु को काबू में करना हो तो उसके निर्बल अंश पर आक्रमण करने से ही सफलता मिल सकती है। शत्रु पर विजय पाने के लिए उसके सब से कमजोर भाग पर ही हमला किया जाता है। मन का निर्बल अंश क्या है ? न्यायदर्शन में मन का लक्षण किया गया है—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम् ।। १।१।१६

मन का यह चिह्न है कि वह एक समय में एक ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है, एक साथ दो व कई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इस पर शंका हो सकती है कि एक ही क्षण में आँख नीबू को देखती, नासिका सूँघती और मुख में उसके स्वाद के लिए पानी भी आ जाता है। तीनों काम मन इन्द्रियों की सहायता से एक साथ कर रहा है। तब एक क्षण में एक ही काम करने का मन का लक्षण युक्तिसंगत नहीं रहता। न्यायदर्शन में इस शंका का उत्तर यह दिया गया है—

अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धि राशु संचारात् ।। ३।२।६३

आतिशबाजी की चर्खी इतनी शीघ्रता से घूमती है कि समूची एक चक्र प्रतीत होती है, वस्तुतः बिजली के लाटू अलग-अलग लगे होते हैं। इसी प्रकार मन इतनी तीव्रता से काम करता ह कि प्रत्येक इन्द्रिय के विषय की अनुभूति में पृथक्ता प्रतीत नहीं होती। यही मन की दुर्बलता है। इसी से लाभ उठाकर मन को किसी एक विषय पर केन्द्रित करने का अभ्यास करना चाहिए। इस से मन तत्काल संयम में आ जाएगा। इसी सिद्धान्त की पुष्टि योगदर्शन में—

यथाभिमतध्यानाद्वा ।। समाधिपपाद् ३९

इस सूत्र से की गई है। अर्थात् मन को केन्द्रित करने के लिए पहले उसे किसी प्रिय वस्तु पर टिकाना चाहिए। फिर, उस प्रिय वस्तु के गुण-दोष का विवेचन कर ऐसे बिन्दु पर स्थिर करना चाहिए जिसमें दोष का सर्वथा अभाव हो और गुणों का समुच्चय हो। जैसे अर्थ सहित "ओ३म्" शब्द है। इसी प्रकार किसी ज्योतिर्मय रूप पर मन को एकाग्र करना चाहिए, जैसे परमात्मा का ज्योतिर्मय स्वरूप। हम

पहले कह आये हैं, यह मार्ग अत्यन्त शनैः-शनैः और धैर्य पूर्वक चलने का है। समय की कोई अवधि निश्चित नहीं की जा सकती। यह प्रत्येक साधक की योग्यता, शक्ति, लगन, तन्मयता इत्यादि पर निर्भर करता है। इसमें महीनों, वर्षों और कई जन्मों का भी कोई महत्त्व नहीं है।

प्रतिकूल चिन्तन

संयम का प्रयत्न करते हुए भी यदि मन में दुर्विचार उठें तो योगदर्शन के अनुसार—

वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम्। साधनपाद ।। ३३ ।।

उसका उलट सोचना चाहिए। जैसे एक पात्र को पूर्णतः साफ करना हो तो उसे उलटा कर दिया जाता है, इसी प्रकार पाप का प्रतिकूल चिन्तन करने से पुण्य के विचार जागृत होंगे और मन संयत होगा। उदाहरण के लिए यदि मन में क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, काम इत्यादि की तरंगें बार-बार उठती हैं, तो उन के उपशमन के लिए इनके उलट विचार शान्ति, प्रेम, सहानुभूति, करुणा, त्याग, इन्द्रिय सयम इत्यादि के विचारों को संकल्प के रूप में उत्पादित करना चाहिए, अथवा ऐसे उत्तम —श्रेष्ठ पुरुषों का चिन्तन करना चाहिए जिन्होंने क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, काम आदि दुर्विचारों पर विजय प्राप्त की है।

इस साधन की पुष्टि में वेद में भक्त कितने दृढ़ निश्चय से घोषणा करता है—

ओ३म्। यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम्।
पथामनुव्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम्। अथर्व ६। २६। २

हे पाप! जो तू हमें नही छोड़ता, तुझे हम छोड़ते हैं। कैसे? पाप के अतिरिक्त दूसरे मार्ग का अवलम्बन करके, जिससे पाप हमारे पीछे नहीं आयेगा।

(२) ओ३म्। परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। परोपेहि न त्वा कामये, वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः ।। अथर्व ६। २६। ३

हे मन के पाप! तू दूर हट जा, यह क्या निन्दनीय भावनाएँ दे रहा है? दूर हो जा। मेरा मन वृक्षों और वनों की शोभा देखने और गौओं के उपकारमय रूप में संलग्न है।

मन के तीन स्तर—पाश्चात्यों का मत

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मन की तीन स्थिति मानते हैं, (१) अचेतन (अनकोन्शस) (२) अर्धचेतन (सब कोन्शस) (३) चेतन (कोन्शस)। पहली अवस्था वह है जो मन में सबसे नीचे एकदम प्रसुप्तवत् है। अनगिनत विचारों का समुच्चय है जो कई जन्म-जन्मान्तरों से आ रहा है। इसे मनुष्य स्वयं भी नहीं जानता। (२) दूसरी स्थित अर्ध चेतन की है जिसमें कुछ विचार सामने आते हैं और कुछ नहीं आते। (३) तीसरी अवस्था "चेतन" की है जब हम अपने आंतरिक विचारों को छिपाते हुए भी संसार में प्रत्यक्ष रूप से अनुकूल-प्रतिकूल व्यवहार करते

हैं। इन मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मन के अचेतन विचारों को "मनोग्रन्थि" कहा जाता है। प्रमुख मनोवैज्ञानिक फ्रायड का मत है कि ये ग्रन्थियाँ मुख्यतः चार प्रकार की हैं—(१) कामवासना (सेक्स) (२) आत्महीनता—इसके दो रूप हैं (क) अहंकार (सुपरईगो) (ख) आक्रमणात्मकता (एग्रेसिवनैस) (३) मैं अपराधी व पापी हूँ—सदा यही सोचना (सिनफुलनैस—आई एम सिनर) (४) प्रतिशोध—बदला लेने की भावना (रिवैंजफुलनैस)। पाश्चात्य दार्शनिक इन्हें सहज प्रवृत्तियाँ (इंस्टिक्ट) मानते हुए कहते हैं कि मानव मन से इनका कभी विनाश नहीं होता, रूपान्तर भले ही हो जाए।

भारतीय दर्शन में आत्मा का प्रथम स्थान

भारतीय दर्शन में पाश्चात्यों की इन चारों सहज प्रवृत्तियों को काम, क्रोध, भय और हिंसा इन नामों से माना गया है। पर इनके अतिरिक्त, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, दर्प, अभिमान, असूया इत्यादि अन्य भी कई वृत्तियों को मान्यता दी गई है। पाश्चात्य और भारतीय चिन्तकों में एक बड़ा भेद यह भी है कि पाश्चात्य जहाँ इन वृत्तियों को सहज मानते हुए अविनाशी मानते हैं, वहाँ हमारे ऋषि-मुनियों का यह दृढ़ सिद्धान्त है कि आत्मा बड़ा बलवान है। गीता में अर्जुन और कृष्ण दोनों ही कहते हैं—

दिव्या ह्यात्मविभूतयः॥ १०। १६, १९

आत्मा की शक्तियाँ दिव्य—शक्तिशाली, अत्यन्तप्रकाशमय—हैं। गीता के अध्याय ११ में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विराट् स्वरूप दिखाया है। वस्तुतः, इसके तत्त्व प्रत्येक मानव के आत्मा में अन्तर्निहित हैं। अभ्यास और साधना द्वारा इस विराट् स्वरूप के आत्म साक्षात्कार की आवश्यकता है। मानव के अन्तस्तल में पाप-पुण्य दोनों प्रकार के बीज उपस्थित हैं। प्रसुप्त रूप में विद्यमान इन दोनों प्रकार के संस्कारों को ऊपर के स्तर पर लाना है। कैसे? घड़े के नीचे तले पर कुछ पानी है। कौए को प्यास लगती है। पर उस की चोंच नीचे पड़े पानी तक नहीं पहुँच सकती। वह घड़े के पास ही पड़े कंकड़ों को चोंच से उठा उस घड़े में डालना आरम्भ करता है। ज्यों-ज्यों कंकड़ घड़े में पड़ते जाते है, पानी ऊपर आता जाता है। अन्ततः घड़े का पानी एकदम ऊपर मुख तक आ जाता है। कौआ अपनी प्यास बुझा लेता है।

इसी प्रकार मन के अवचेतन स्तर पर पड़े जो विचार हैं, उन्हें आत्म चिन्तन, (सेल्फ इंट्रपोस्पैक्शन) आत्म-परीक्षण (सेल्फ-एग्जामिनेशन) और आत्म-उद्बोधन (आटो-सजैश्शन) द्वारा ऊपर के स्थर पर लाना है। तब आत्मा अपने स्वरूप को स्पष्ट देख सकेगा। उस समय, जैसे बाग का समझदार माली सड़े-गले पौधों-पत्तों को निकाल स्वस्थ पौधों को खुरपी से नहेरता और उनके लिए जल आदि की व्यवस्था करता है, इसी प्रकार आत्मा के प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे संस्कारों और विचारों में से पाप युक्त का विनाश और पुण्यमय का संरक्षण-संवर्धन करे। जैसे, आज की भवन निर्माण कला में क्रेन के द्वारा भूमि पर पड़ी हुई निर्माण-सामग्री को ऊपर से ऊपर १० वीं, १२ वीं इससे भी ऊपर की मंजिल तक चढ़ाया जा सकता है, उसी प्रकार अवचेतन मन में पड़े प्रसुप्त विचारों-संस्कारों को आत्मा, ईश्वर प्रणिधान सहित, सत्संग, स्वाध्याय, शम, दम प्राणायाम आदि साधनों से अपने सम्मुख उपस्थित कर पुण्यमय का ग्रहण और पापमय का विसर्जन दृढ़ता से

निरन्तर करता हुआ आत्मशक्ति को ऊर्ध्व दिशा की ओर ले जा सकता है।

पाशविक प्रवृत्तियों का विनाश सम्भव है

पाश्चात्य दार्शनिकों का यह कथन कि मानव की सहज प्रवृत्तियां—जिन्हें पाशविक भावना (ऐनीमल इन्स्टिंक्ट) कहा जाता है, कभी भी विनष्ट नहीं होतीं—भारतीय ऋषियों की दृष्टि से अशुद्ध है। आज के रासायन विज्ञान के अनुसार दो या अधिक तत्त्वों के मेल से निर्मित वस्तु एकदम नये रूप में आ जाती है। हाइड्रोजन और आक्सीजन के आनुपातिक तत्त्वों का रासायनिक प्रक्रिया (केमिकल एक्शन) से एक सर्वथा नया पदार्थ जल के रूप में उपस्थित होता है। इसी प्रकार हीरा और पत्थर का कोयला—मूलतः एक सदृश तत्त्वों के ही हैं। दोनों का निर्माण भूगर्भ स्थित एक ही खान में होता है। पर, काल की अवधि के भेद से एक अमूल्य निधि माना जाता है और दूसरा, तुलना में अत्यन्त सस्ता और जगह-जगह धक्के खाने वाला होता है।

पाप के संस्कारों का उन्मूलन आवश्यक

यदि अचेतन जगत् में कुछ रासायनिक तत्वों के संयोग-वियोग से इतने चमत्कारी परिणाम प्रकट हो सकते हैं तो चेतन आध्यात्मिक जगत् में पाप-संस्कारों का मूलतः उच्छेदन और पुण्यसंस्कारों का अधिकतम उत्थापन क्यों नहीं हो सकता? पश्चिम और प्राचीन भारत के दार्शनिकों के चिन्तन में मूल भेद यही है कि पाश्चात्य विचारक मन (माइंड) को ही आत्मा समझते हैं, इससे ऊपर और पृथक् "आत्म तत्त्व" का अस्तित्व नहीं मानते। अब कुछ पाश्चात्य चिन्तक "सोल" और "स्पिरिट" के नाम से "आत्मा" को मानने लगे हैं पर उनका यह आत्मा अजर-अमर, अविनाशी इत्यादि और सत्-चित् रूप है—ऐसा वह नहीं मानते। उनके चिन्तन का मूल आधार भौतिक जगत् (फिजीकल वर्ल्ड) तथा रासायनिक प्रक्रिया (कैमिकल प्रोसेस) तक ही सीमित है। इसी दृष्टि से वे आध्यात्मिक जगत् को भी मापना-तोलना चाहते हैं।

मनुष्य के आत्मा में पुण्य-पाप दोनों प्रकार की विचारधाराएँ सतत गतिशील रहती हैं। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जिसके आत्मा में कभी भी कोई पुण्य विचार न आता हो। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जहाँ घोरतम पापी के हृदय में भी पश्चात्ताप की भावना पैदा हुई और पुण्य के प्रसुप्त संस्कार जागे। उस पतित ने पुण्य के प्रकाश को दृढ़ता से पकड़ लिया, फलतः जीवन में क्रान्ति आ गयी। इसके विपरीत ऐसे भी उदाहरण मानव इतिहास में है जहां किसी पुण्य आत्मा के भीतर कोई प्रसुप्त पाप का विचार जाग गया, उसे तत्काल निकालने का प्रयत्न न किया गया हो तो बीज रूप पाप संस्कार उस धर्मात्मा को अन्धकार के गड्ढे में गिरा देता है?

इस लिए मानव को सदा सावधान और चौकस रहना चाहिये कि कहीं किसी छिद्र से भी आत्मा में कोई पाप-विचार न आने पाये और साथ ही, कोई पाप-संस्कार जागने न पाये। पाप का जो विचार आत्मा में बहुत छोटा प्रतीत होता है, वही अनुकूल परिवेश पाकर प्रचण्ड रूप धारण कर सकता है। दियासलाई की एक छोटी-सी तीली क्या सारे मकान को भस्म नहीं कर सकती? क्या आग की एक चिनगारी गगनचुम्बी अट्टालिका को भूमिसात् नहीं कर सकती? इसलिए पाप के

विचार को कभी छोटा नहीं समझना चाहिये। कई बार मनुष्य सोचता है, अथवा यार दोस्त फुसलाते हुए कहते हैं "अजी! इसमें क्या रखा है? यह जरा-सी तो बात है? आज कर लो, फिर कभी न सही......।" ये सब पाप के लुभावने रूप हैं। "जरा सी बात" बड़ी भारी बन जाती है। एक बार की गिरावट दूसरी गिरावट के लिए मार्ग खोल देती है। यह नहीं भूलना चाहिए कि पहाड़ की चोटी पर चढ़ना कठिन होता है; गिरने के लिए तो एक छलांग ही काफी होती है।

सतत आत्मिक जागरूकता आवश्यक

आध्यात्मिक क्षेत्र में अत्यन्त जागरूकता और अहर्निश सावधानता चाहिये। एक प्रकार के फणियर सांप के मस्तक में मणि होती है जो रात को चमकती है। सांप इस मणि की रक्षा बड़ी तत्परता से करता है। कभी-कभी वह इसे सामने रख उसके चारों ओर खेलता है। इस दशा में यदि कोई उसके तनिक भी पास फटके, वह उसे तत्काल डस कर अपने कालकूट विष से मार देता है। जिस प्रकार यह काला नाग अपनी मणि की रक्षा इतनी आतुरता से करता है, ऐसे मानव को स्वयं अपने पुण्य आत्मा की रक्षा करनी चाहिये। जिस प्रकार कंजूस प्रतिदिन अपनी थैली की रकम गिनता रहता और उसे पूर्ण प्रयत्न से अपनी कमर के साथ बांधे रहता है, इसी प्रकार मानव को अपने आत्मा और मन की पाप से रक्षा करनी चाहिये। जिस प्रकार सिपाही प्रतिदिन नियमपूर्वक कवायद करता है, निशानेबाजी करता और अपने युद्ध के हथियारों को सर्वथा साफ और तैयार रखता है, युद्ध का बिगुल बज जाने पर तत्क्षण सन्नद्ध हो रणक्षेत्र में पहुँच जाता है, इसी प्रकार आत्मा को भी प्रतिदिन नियम से उपासना, आत्मनिरीक्षण, एकान्त चिन्तन, यम-नियम पालन रूप कवायद करानी चाहिये और मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ इत्यादि हथियारों को पाप सेना से लड़ने के लिए सदा तत्पर रखना चाहिये। इसी को वेदों में और शास्त्रों में, विभिन्न अलंकारों के साथ देव-असुर संग्राम कहा है जो प्रतिक्षण मानव के अन्तःकरण में होता रहता है।

प्रत्येक आत्मा में पुण्य की भावना

प्रभु की यह अपार दया है कि प्रत्येक मानव के हृदय में पाप के लिए स्वभावतः भय, शंका, लज्जा और पुण्य के लिए, अभय, साहस, निःशंकता, उत्साह इत्यादि के भाव सदा उपस्थित रहते हैं। साथ ही प्रभु की यह भी कृपा है कि पापी से पापी पुरुष के हृदय में भी कभी न कभी पुण्य के विचार अवश्य उठते हैं और वह स्वयं अपने अन्दर पाप से घृणा अनुभव करता है। पापी के ऐसे विचार काफी क्षणिक होते हैं और कभी प्रबल रूप से उसे जीवन की दिशा बदलने के लिए प्रेरित करते हैं। फिर, प्रभु की यह भी एक अनोखी कृपा है कि मानव के लिए पूर्णतः अहर्निश पाप में ग्रस्त रहना असम्भव है, किसी न किसी क्षण उसका अपना आत्मा ही भीतर से उसे कचोटता रहता है। पर इसके विपरीत, मानव के लिए पूर्णतः अहर्निश, प्रतिक्षण, पुण्य सरिता में निमग्न रहना सर्वथा सम्भव और स्वाभाविक है। ऐसे महा मानव का आत्मा कभी भीतर से उसे कचोटेगा नहीं, अपितु उसे आनन्दमय बनाये रखता है। अभिप्राय यह है कि पाप का तो सबीज नाश हो सकता है और ऋषि-मुनियों के जीवन में हुआ है पर पुण्य का सबीज नाश घोर पापी के हृदय में से भी सर्वदा के लिए नहीं हो सकता।

योगदर्शन में कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि में भूना गया बीज अपनी उत्पादन शक्ति को खो देता है, इसी प्रकार प्रभु समर्पण, निरन्तर अभ्यास और वैराग्य इत्यादि सात्त्विक भावनाओं के फलस्वरूप पाप के संस्कार, मूलतः, नष्ट हो जाते हैं। मुण्डक उपनिषद् में ऋषि कहते हैं—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति ॥

३ । १ । ३

जिस समय जीवात्मा प्रकाश स्वरूप, विश्वकर्त्ता, सर्वस्वामी, महान् ब्रह्म का दर्शन कर लेता है, तब पुण्य-पाप दोनों से वियुक्त हो वह विद्वान् परमात्मा के सान्निध्य को प्राप्त कर लेता है।

पाप तीन प्रकार का

पाप शब्द "पा रक्षणे" धातु से बनता है। "पाप के साथ" प का आगम होने से, उणादि पाठ के अनुसार "पाप" शब्द बनता है जिसकी व्युत्पत्ति है—

पान्ति रक्षन्ति आत्मानं अस्मादिति पापमधर्मोवा।

जिससे दूर रहकर आत्मा की रक्षा की जाती है—जिससे बचाकर आत्मा को रखा जाता है, वह पाप व अधर्म है। "पुण्य" शब्द "पूञ् पवने" धातु से उणादि में यण्-णुक् और "ऊ" को ह्रस्व "उ" करने से सिद्ध होता है। इसकी व्युत्पत्ति है—

पवते पवित्रो भवति येन तत् पुण्यम्, सुकृतो धर्मो वा।

जिससे पवित्र हो, वह पुण्य, सुकृत व धर्म है। न्यायदर्शन के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने पाप तीन प्रकार के बताये हैं, शरीर, वाणी और मन के।

(१) **शरीर के पाप—शरीरेण प्रवर्त्तमानः हिंसा स्तेय प्रतिषिद्ध मैथुनानि।**

हिंसा, चोरी और निषिद्ध मैथुन करना—ये तीन शरीर के पाप हैं।

(२) **वाणी के पाप—वाचाऽनृतं परुष सूचना असम्बद्धानि।**

मिथ्या बोलना, कठोर बोलना, चुगली और वृथा बोलना—ये चार वाणी के पाप हैं।

(३) **मन के पाप—मनसा परद्रोह परद्रव्याभीप्सा नास्तिक्यं चेति प्रवृत्ति रधर्माय।**

मन में दूसरों के प्रति कुत्सित भावना, दूसरे के धन को हरण करने की आकांक्षा और नास्तिकता—ये तीन मन के पाप हैं। इन तीनों शरीर, वाणी और मन के पापों से अधर्म के लिए प्रवृत्ति होती है।

पुण्य के तीन रूप

पुण्य का रूप—योगदर्शन, साधन पाद सूत्र के अनुसार—

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥

(१) तप का लक्षण शंकराचार्य ने किया है—

स्वधर्मवर्तित्वं तपः

अपने कर्त्तव्य का पालन ही तप है। योग दर्शन, साधनपाद, सूत्र ४३ के अनुसार तप से शरीर और इन्द्रियों पर संयम और मन की अशुद्धि का नाश होता है।

(२) स्वाध्याय—इसके तीन अर्थ हैं (क) प्रणव का जाप (ख) मोक्ष प्रेरक शास्त्रों का अध्ययन और (ग) आत्मज्ञान व आत्मचिन्तन।

(३) ईश्वर प्रणिधान—इसका स्वरूप व्यास मुनि के शब्दों में—

सर्वक्रियाणां परमगुरौ अर्पणं तत्फल संन्यासो वा।

अपने सब कर्मों का परमगुरु परमात्मा में समर्पण और कर्मफल त्याग की भावना।

योगदर्शन २।४५ के अनुसार—

समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।

ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।

संस्कार और वृत्तियों का सतत चक्र

पुण्य और पाप के संस्कार प्रत्येक मानव के आत्मा में विद्यमान हैं। वृत्तिरूप में इन संस्कारों का प्रादुर्भाव दिनरात चलता रहता है। योगदर्शन के प्रथमपाद के पांचवें सूत्र का भाष्य करते हुए व्यास मुनि इन संस्कार-वृत्तियों के सम्बन्ध में कहते है—

तथा जातीयकाः संस्काराः वृत्तिभिरेव क्रियन्ते, संस्कारैश्च वृत्तय इति। एवं संस्कार वृत्ति चक्रमनिशं आवर्त्तति॥

अपने अनुकूल संस्कारों से वृत्तियां और वृत्तियों से संस्कार चक्र निरन्तर चलता रहता है। कोश के अनुसार वृत्ति का अर्थ है "चित्त की अवस्था का व्यापार विशेष। संस्कार का अर्थ है—इन्द्रियों से दूर एक प्रकार के मानस कर्म का अनुभव अथवा भावना। वृत्ति और संस्कार-जीवात्मा से सम्बद्ध हैं।

इसलिए पुण्य के मार्ग पर चलने के लिए साधक क्या करे—व्यास मुनि बड़े भावपूर्ण और आत्म-अनुभूति पर आधारित शब्दों में योगदर्शन के भाष्य में कहते हैं—

एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत् प्रतिपक्षान् भावयेत्। घोरेषु संसारागांरेषु पच्यमानेन मया शरण मुपगतो योग धर्मः। स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्ते नेति भावयेत्। यथा श्वा वन्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति॥

जिस समय पाप ज्वर के सदृश उग्र रूप से उन्मार्ग में जाने के लिए बाध्य करे, उस समय पाप के उलट की भावनाओं का चिन्तन करे। उस समय सोचे—इस

संसार रूपी भयंकर अंगारों की अग्नि में पकते हुए मैंने योगधर्म की शरण ली। अब क्या मैं इस योगधर्म को छोड़ पुनः पाप को ग्रहण करूँ? इससे तो मैं कुत्ते की जैसी वृत्ति का बन जाऊँगा। जैसे कुत्ता स्वयं अपने वमन को चाट लेता है, इसी प्रकार क्या मैं स्वयं त्यक्त पाप वस्तु को ग्रहण कर लूँ? यह तो सर्वथा अनुचित है।

इस अध्याय में हमने पाप-पुण्य सदृश जटिल प्रश्न के सम्बन्ध में विविध दृष्टि-कोणों से विचारते हुए यह स्थापना की है कि पाप-पुण्य दोनों का उद्भव मानस के अन्तस्तल से ही होता है। अन्तर्मुखी होकर ही पाप पर विजय प्राप्त की जा सकती है। प्रभु कृपा से, मानव, स्वभावतः पुण्य की ओर झुकने वाला और पुण्य आकांक्षी है, पापी से पापी के हृदय में भी पुण्य के विचार अवश्य उठते हैं और पाप से घृणा पैदा करते हैं। पर, मानव, तत्काल, ऐसी पवित्र विचार तरंगों को भूल पुनः पाप में प्रवृत्त हो जाता है।

इसलिए मन को आत्मा के आधीन और आत्मा को ईश्वरार्पण करने से ही मानव अहर्निश पुण्य सरिता में आनन्द निमग्न रह सकता है। वैदिक धर्म की दृष्टि से पुण्य-पाप की यही मीमांसा है। वेद के शब्दों में—

"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"। यजु ३१। १८

इसके अतिरिक्त अन्य कोई कल्याण का मार्ग नहीं है।

—

१९

क्या पाप क्षमा हो जाते हैं?

यह शंका प्रायः की जाती है कि क्या पाप क्षमा हो जाते हैं? जिन सेमेटिक मजहबों का हम पिछले अध्याय के प्रारम्भ में संकेत कर आये हैं, वे सब यही मानते हैं कि उनका पैगम्बर व नबी अपने मुरीदों के सब गुनाहों को ले सूली पर चढ़ गया व दुनियाँ से कूच कर गया। अपने पीर-पैगम्बर पर पूरा इतकाद करने से कुल गुनाहों से मुआफी के साथ बहिश्त व नजात भी मिल जाएगी। हिन्दूओं के पुराणों ने तो पाप से छूटने और स्वर्ग प्राप्ति का इसाइयत-इस्लाम से भी अधिक सस्ता, सहज, सरल तरीका ढूँढ़ निकाला। बिना किसी देवी-देवता पर विश्वास किये, पुराणों के अनुसार—

गंगा गंगेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

पद्म पुराण उत्तरखंड २३। २

हजारों कोस दूर बैठे भी यदि कोई व्यक्ति "गंगा-गंगा" यह शब्द बोल दे

जो कितना भी पापी क्यों न हो, वह सब पापों से छूट सीधा विष्णुलोक पहुँच जाएगा।

मुक्ति और पापों से छूटने का कितना सहज—चुटकी भरा—यह नुस्खा सब मजहबों को मात कर गया है। सचमुच, यह नहले पर दहला है। पर क्या, वस्तुतः, किसी पीर-पैगाम्बर, अवतार पर विश्वास लाने, कोई शब्द विशेष बोलने, शरीर को चक्रांकितों की तरह दागने, वैष्णव-शैवों की तरह माथे पर उलटी-सीधी रेखाएँ खींचने, कंठी, माला, कड़ा, तावीज इत्यादि धारण करने व मूक, निर्दोष पशुओं की हिंसा से पाप क्षमा हो सकते हैं? क्या किसी विशेष नदी, नाले, स्रोत इत्यादि में स्नान करने से पाप छूट जाते हैं? वस्तुतः, यह सब पूर्णरूप से आत्म प्रवंचन ही है। गालिब के शब्दों में—

> खूब मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन,
> दिल बहलाने को गालिब यह ख्याल अच्छा है।

ईश्वर को धोखा देने के ढोंग

संसार के व्यवहार में कई लोग रिश्वत देकर अपना काम निकाल लेते हैं। मनुष्य यह समझता है कि इस रिश्वत के जादू से वह परमात्मा को रिझा लेगा। अपने पापों को छिपाने व उनके फल से अपने को बचाने के लिए वह अपने-अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार अनेक प्रकार के ढोंग करता है। तीर्थ स्थानों की यात्रा, कब्र-मजारों की पूजा, दरगाहों पर चादर चढ़ाना, सेवियां चढ़ाना, विविध प्रकार के और विशिष्ट अवसरों पर पूजा-पाठ, दान, यज्ञ, अखण्ड कीर्तन, इष्ट पूर्ति के लिए मंदिरों, पूजा स्थानों पर चढ़ावा—इत्यादि अनगिनत प्रकार के व्यय साध्य और कष्टप्रद ढोंग किए जाते हैं। कुछ समृद्ध व्यक्ति किसी पण्डित-पुरोहित को प्रतिदिन घर में आकर पूजा-पाठ-जाप आदि करने के लिये मासिक वेतन देकर अपने को धर्मात्मा समझने का गर्व करते हैं।

आज के युग में गुरु-चेला लीला का जोर है। हवाई जहाजों और जेट विमानों पर यात्रा करने, विदेशों में जा शिष्य-शिष्याएँ मूंड़ने, बड़े आलीशान ढंग से रहने, अंग्रेजी में भाषण देने, बढ़िया होटलों में ठहरने, संसार के सब भोग करते हुए भी ३ महीने में योग विद्या में पारंगत कर देने और ईश्वर दर्शन कराने का दावा करने वाले—पहले से निश्चित करके ही (एप्वायन्टमेंट से) एकान्त में मिलने—इत्यादि ढोंगों में चतुर कनफुकवे गुरुओं की आजकल बड़ी चर्चा है। ये लोग एजेन्टों, समाचारपत्रों तथा अपने भव्य, मनमोहक चित्रों के साथ आकर्षक पुस्तक-पुस्तिकाओं—इत्यादि प्रचार के आधुनिक माध्यमों से पहले इश्तिहारबाजी देश-विदेश में करते कराते हैं। इनका विशेष लक्ष्य धनी व्यापारी, उच्च सरकारी नौकर, मंत्री, विधान सभा व संसद् सदस्य, सुन्दर युवतियाँ—इत्यादि को अपने जाल में फंसाना होता है। भारत में कुछ ऐसे भी तथा-कथित गुरु आज अपना जाल बिछाने में सक्रिय हैं जिन्हें विदेशी संस्थाओं से इसलिए गुप्त सहायता मिलती है ताकि वे भारत के नैतिक पतन में सहायता दें। कई चोर-बाजारिये और तस्करिये अपने काले धन को श्वेत रूप देने के लिए इन आधुनिक योगियों और गुरुओं का पल्ला पकड़ लेते हैं।

पहले पाप, फिर बचने के छल-कपट

मनुष्य पहले पाप करता है, फिर उसके फल से बचने के लिए कितना छल-कपट करता है। महाभारत वनपर्व में यक्ष-युधिष्ठिर संवाद में यक्ष के इस प्रश्न का कि "संसार में क्या महान् आश्चर्य है?" युधिष्ठिर कितना सार्थक उत्तर देता है:—

(१) फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।
फलं पुण्यस्य चेच्छन्ति पुण्यं न कुर्वन्ति सर्वथा॥

(२) धर्मं प्रसंगादपि नाचरन्ति, पापं प्रयत्नेन समाचरन्ति।
आश्चर्यमेतत् हि मनुष्यलोकेऽमृतं परित्यज्य विषं पिबन्ति॥

पाप का फल नहीं चाहते पर पाप यत्न से करते हैं, पुण्य का फल चाहते हैं पर पुण्य सर्वथा नहीं करते। धर्म का गौण रूप से भी पालन नहीं करते, पाप खूब प्रयत्न से करते हैं। यही बड़ा आश्चर्य है कि मनुष्य अमृत छोड़कर विष का पान कर रहा है।

यदि पाप क्षमा नहीं होते—तो शुभ कर्म क्यों?

तब, प्रश्न उठता है कि यदि पापों की क्षमा नहीं होती, तब उपासना, ध्यान, भजन, कीर्तन, अनुष्ठान, यज्ञ-योग, कर्मकांड, दान, सेवा, परोपकार इत्यादि विविध शुभ कर्मों की क्या आवश्यकता है? सन्ध्या में भी तो महर्षि दयानन्द ने—

"ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।"

ऋग्० १०।१९०।१-२

इत्यादि मन्त्र को "अघमर्षण" अर्थात् "पाप को नाश करनेवाला" मंत्र कहा है। ऋषि दयानन्द ने "आर्याभिविनय" के द्वितीय प्रकाश के प्रथम मंत्र की व्याख्या करते हुए कहा है—

मनसा, वाचा, कर्मणा, अज्ञानेन प्रमादेन वा यत् यत् पापं कृतं मया, तत्तत् सर्वं कृपया क्षमस्व।

मन, वाणी, कर्म, अज्ञान, व प्रमाद से जो-जो पाप मैंने किए हैं, वह सब कृपा कर क्षमा कर दें।

इसलिए पापों की क्षमा मांगना अनुचित नहीं है।

पाप का फल दुःख : सहर्ष सहन करो

इस शंका के प्रथम भाग का उत्तर यह है कि वर्तमान जीवन में ज्ञान, कर्म व उपासना द्वारा श्रेष्ठ कर्म दो भावनाओं से करने हैं—पहली यह कि पिछले पापों का फल मनुष्य सहर्ष सहन करने को तैयार हो। जिस समय किसी पाप का फल दुःख के रूप में प्राप्त हो, तो वह यह समझे कि इसके द्वारा मेरे आत्मा का मल दूर हो रहा है और मुझे प्रभु स्मरण का अवसर मिल रहा है। कबीर के शब्दों में—

दुःख में सब कोई भजै, सुख में भजै न कोय।
जो कोई सुख में भजै, दुख काहे को होय॥
सुख के माथे सिल परे, जो हरि नाम भुलाय।
बलिहारी उस दुख की, जो पल पल नाम रटाय॥

पाप का फल तो अवश्य भोगना ही पड़ेगा, चाहे हंस के भोगो, चाहे रो के। धर्मात्मा पुरुष हंसकर भोगता हुआ उस पीड़ा को अत्यन्त कम कर देता है और पापी रोकर भोगता हुआ पीड़ा को अधिक बढ़ा लेता है। इसलिए धर्माचरण से आत्मा में इतना बल आता है कि वह अत्यन्त विपरीत अवस्थाओं में भी अपने सन्तुलन को खोता नहीं है।

पुण्य जीवन से पाप के संस्कार निर्बल होंगे

दूसरी भावना यह है कि इस जन्म में पुण्य जीवन से पाप के संस्कार और वृत्तियाँ इतनी निर्बल और शक्तिहीन हो जाती हैं कि पुनः प्रादुर्भूत नहीं होतीं और यदि हों भी तब भी मानव को पतन की ओर नहीं ले जा सकतीं। योगदर्शन समाधि-पाद, सूत्र ११ में कहा है—

ध्यान हेयास्तद्वृत्तयः।

इस प्रकार की पाप की वृत्तियाँ धर्म मार्ग का अवलम्बन और प्रभु स्मरण से सर्वथा हेय-त्याज्य-निर्बल हो जाती है। फलतः यह जानते हुए भी कि—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्।

शुभ-अशुभ कर्म का फल तो अवश्य भोगना पड़ेगा—मनुष्य को शुभ मार्ग पर दृढ़ता से चलना चाहिए। गोस्वामी तुलसी के इस कथन का कि—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहिं सो तस फल चाखा॥

सदा स्मरण करके मानव को धर्म मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए। इस समय का शुभ कार्य उसे अवश्य ही शुभ फलप्रद होगा। इस प्रकार उसका जीवन सदा आशामय होना चाहिए।

सन्ध्या के "अघमर्षण" का अभिप्राय

सन्ध्या के "अघमर्षण" मन्त्र के सम्बन्ध में की गई शंका का उत्तर यह है कि इसमें पाप की क्षमा का भाव कहीं नहीं है। "अघ" का अर्थ है पाप। "मर्षण" शब्द का अर्थ है—दूर करना। ऋषि ने यही अर्थ किया है कि "कृत पाप को दोबारा न होने देना।" पाप का यह दूरीकरण ही "अघमर्षण" है।

मानव दो प्रकार के पापों का बड़ी जल्दी शिकार हो जाता है—एक अहंकार और दूसरा अवसाद अर्थात् आत्महीनता। इस मंत्र में कहा गया है कि इस विश्व की महानता को देख मानव में जहां अहंकार प्रादुर्भूत न हो वहां एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु व जल बिन्दु की भी उपयोगिता को देख उसके अन्दर अवसाद व "आत्म-हीनता" का भी प्रादुर्भाव न हो। यही "अघ" पाप है और इसके ही "मर्षण" अर्थात् निवारण की इस मंत्र में प्रार्थना की गयी है।

ऋषि दयानन्द द्वारा क्षमा का अर्थ

तीसरी शंका—ऋषि दयानन्द ने आर्याभिविनय के द्वितीय प्रकाश के पहले मंत्र के अर्थ में "तत् सर्वं कृपया क्षमस्व" लिखकर पाप के क्षमा होने का प्रतिपादन किया है। ऋषि के सम्बन्ध में यह शंका निर्मूल है। इसी पंक्ति में ऋषि आगे कहते हैं—

"ज्ञानपूर्वकपापकारणान्निवर्तयतु माम्"

अर्थात्, ऋषि के शब्दों में "ज्ञान पूर्वक पाप करने से भी मुझको रोक दें जिससे मैं शुद्ध होके आप की सेवा में स्थित होऊं।"

· आर्याभिविनय के प्रथम भाग के मंत्र ३६ में—

"अप नः शोशुचदघम्" (ऋग्० १।७।५।६) का अर्थ करते हुए ऋषि कहते हैं—

"आपकी इच्छा से हमारा पाप सब नष्ट होजाए जिससे हम लोग निष्पाप हो के आपकी भक्ति और आज्ञा पालन में नित्य तत्पर रहें।"

इस प्रकार के अन्य भी कई ऋषि वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द पाप के क्षमा होने के विचार को सर्वथा अमान्य समझते थे। "सत्यार्थ प्रकाश" के सातवें समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने एक प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट कहा है कि पाप कभी क्षमा नहीं होते और अगर क्षमा का सिद्धान्त मान लिया जाए तो पाप निरन्तर बढ़ते जाएंगे।

पाप क्षमा होने से पाप वृद्धि

पाप क्षमा होने के सिद्धान्त को मानने से एक बड़ी हानि हानि यह होती है कि इससे पाप में प्रवृत्ति बढ़ जाती है। अगर प्रजा में यह भाव फैल जाए कि राजा अपराध क्षमा कर देता है तो क्या कभी उस राज्य में अपराध कम हो जाएँगे ? कभी नहीं। अपितु अपराधों की संख्या खूब बढ़ जाएगी। इसी प्रकार, यदि ईश्वर के राज्य में पापों के क्षमा होने की धारणा मान्य हो जाए, तो एक ओर पुण्य का क्षय होगा और दूसरी ओर पापों की अतिशय वृद्धि हो जाएगी। ऋषि दयानन्द ने इसलिए सत्यार्थ प्रकाश के सातवें समुल्लास में पाप के क्षमा होने के विचार का प्रबल खण्डन किया है। पाप के क्षमा होने की संभावना मान लेने से दूसरी बड़ी क्षति यह होगी कि आत्मा के भीतर पाप से संघर्ष और युद्ध करने तथा उस पर विजय प्राप्त करने की शक्ति का सर्वथा लोप हो जाएगा। जब पाप क्षमा ही हो जाते हैं तब आत्मा को उससे संघर्ष करने की प्रेरणा ही क्यों मिलेगी ? वस्तुतः, उस समय मानव आत्मा पशुवत् निश्चेष्ट और सर्वथा निर्बल हो जाएगा। क्या यह कम हानि है ?

श्री कृष्ण गीता ५।१५ में स्पष्ट कहते हैं कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे के पाप-पुण्य को नहीं ले सकता है। ऐसा मानना कि ले सकता है "अज्ञान" है। गीता के अध्याय १६ के श्लोक ७ से २० तक, असुर वृत्ति के पुरुषों का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं कि ऐसे लोग संसार को बिना किसी पाप-पुण्य की व्यवस्था और बिना किसी ईश्वर के मानते हैं और सदा नरक में जाते हैं।

पापी सुखी और धर्मात्मा दुःखी क्यों ?

पाप-पुण्य के सम्बन्ध में एक शंका यह भी की जाती है कि "संसार में, प्रायः, पापी फलते-फूलते और सुखी देखे जाते हैं जब कि धर्मात्मा सदा दुःखी और अभाव ग्रस्त, कष्टमय जीवन बिताते देखे जाते हैं।"

इस सम्बन्ध में पहला विचारणीय तथ्य यह है कि सुख और दुःख की कोई सार्वभौम और सार्वजनीन परिभाषा नहीं की जा सकती है। ऐसी कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती जिसके एक ओर सुख हो और दूसरी ओर दुःख हो। यह सुख दुःख केवल मात्र अपने अपने दृष्टिकोण और सोचने के ढंग पर निर्भर करता है। ऋषि दयानन्द पौष माघ के कड़े शीत काल में भी केवल कौपीन पहने सर्वथा नग्न गंगा तट पर खुले आकाश के नीचे सोते हुए भी प्रसन्न रहते थे, जब कि गर्म कपड़ों के लबादों से ढके भक्त जन उनके पास बैठे ठिठुराते रहते और मौसम की शिकायत करते रहते थे। मनु ने सुख-दुःख का लक्षण अत्यन्त संक्षिप्त पर सर्वथा अकाट्य और सर्वग्राही किया है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम् ४।१६०

जहाँ तक कोई किसी के आधीन है वह दुःखी है और जहां तक अपने आत्मा के आधीन है, वहां तक वह सुखी है।

इस शंका दूसरा उत्तर यह भी है कि पापी और धर्मात्मा पिछले जन्मों के कर्म लेकर तो अवश्य आते हैं। इस जन्म में दोनों को अपने-अपने कर्मों का फल ईश्वर के नियमानुसार भोगना है और साथ ही इस जन्म तथा अगले जन्मों के लिए नये कर्मों का संचय करना है। किस कर्म का फल मनुष्य को कब और किस प्रकार मिल रहा है इसका विशुद्ध ज्ञान मानव बुद्धि से परे है। इसलिए यदि इस जन्म में पापी फलता फूलता और धर्मात्मा दुःखी दिखाई देता है, तो निश्चय ही यह दोनों के पूर्व जन्म कृत कर्मों का फल ही है। पर दोनों में एक बड़ा भेद है। पापी तो इस लौकिक सुख प्राप्ति में अभिमान से फूला "मैं ही सब कुछ हूँ" इस भावना के साथ संसार में रहता है और धर्मात्मा दुःख-कष्ट को धैर्य के साथ सहता हुआ आत्म-बल की वृद्धि करता है और इस विपरीत स्थिति का स्वागत करता हुआ समझता है कि "मेरे सिर से पापों का बोझ इसी जन्म में हल्का हो रहा है। जितना दुःख अधिक होगा उतना पाप का बोझ अधिक शीघ्र हल्का होगा। कबीर के शब्दों में—

खुलि खेलो संसार में, बांध सकै न कोय।
घाट जगाती क्या करे, जो सिर बोझो न होय।।

पापी के जब सुख के दिन, धूप छाया के समान समाप्त हो, दुःख की काली घटाएं चारों ओर से आती हैं तब वह रोता हुआ कहता है—

किं करोमि क्व गच्छामि पतितोऽहं दुःख सागरे।

क्या करूं, कहां जाऊं, मैं तो दुःख सागर में डूब रहा हूँ।

पापी के फलने फूलने और धर्मात्मा के दुःखी दिखाई देने का तीसरा बड़ा युक्ति संगत और विश्व घटना चक्र पर आधारित समाधान मनु महाराज ने निम्न शब्दों में किया है—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ।। ४।१७४

पाप-अधर्म से पहले फलता-फूलता है, फिर सब ओर कल्याण देखता है, फिर शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है और अन्त में समूल नष्ट हो जाता है ।

विश्व का इतिहास उच्च स्वर से मनु के इस चतुर्विध सत्य की पुष्टि कर रहा है । अधर्म और पाप से ग्रस्त व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, देश, भूतकाल में और वर्तमान काल में भी, इस चतुरंग सिद्धान्त की साक्षी दे रहे हैं । इसलिए पापी के सुख-ऐश्वर्य और धर्मात्मा के दुःख-कष्ट को देख तात्कालिक परिणाम नहीं निकालना चाहिए, किन्तु दूरदृष्टि से देखना चाहिए । इन बाह्य सुखी व्यक्तियों के जीवन की अन्तरंग पड़ताल से पता चलता है कि उनके हृदय में दुःख, चिन्ता, क्लेश, उधेड़ बुन की कितनी प्रसुप्त और गुह्य ज्वालाएं जल रही हैं । इसके विपरीत, बाहर से दुःखी दीखने वाले धर्मात्मा के अन्तर्हृदय में कितना आत्म संतोष, धैर्य और, सर्वाधिक, अविचल ईश्वरार्पण के प्रबल शान्ति पूर्ण स्रोत बह रहे हैं । पापी और पुण्यात्मा में एक बड़ा भेद यह है कि पापी अपना दुःख दूसरों पर डालना चाहता है और सुख का अकेले ही भोग करना चाहता है जब कि धर्मात्मा दुःख को स्वयं अपने आत्म बल से सहता है और सुख का उदारता से चारों ओर वितरण करता है ।

कर्म तीन प्रकार के

पाप-पुण्य के सम्बन्ध में एक शंका यह भी की जाती है कि यह सब भाग्य का खेल है अथवा ईश्वर की इच्छा पर है चाहे किसी को सुख दे व दुःख दे, कर्मफल अथवा पाप पुण्य तो बहाना मात्र हैं ।

यह विचार सर्वथा युक्तिहीन और बेसिरपैर का है और अपने को तथा दूसरों को धोखा देने के लिए घड़ा गया है ।

सबसे पहले यह समझ लेना चाहिए कि ईश्वर सर्वथा न्यायकारी, निष्पक्ष, समस्त ब्रह्माण्ड में एक सम व्याप्त और देश काल की परिस्थितियों से सर्वथा असम्पृक्त और अप्रभावित है । उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं है और न ही उसके नियमों में किसी प्रकार की रिआयत, खुशामद व पक्षपात है ।

भाग्य वाली कल्पना भी निराधार है । भाग्य नाम की कोई वस्तु कर्म सिद्धान्त से पृथक् व स्वतन्त्र नहीं है । कर्म तीन प्रकार के हैं—(१) तात्कालिक (२) अल्पकालिक और (३) संचित । पहले प्रकार के कर्म वे हैं जिनका तत्काल फल मिल जाता है जैसे अग्नि में हाथ डालें, तो तत्क्षण जल जाएगा ।

(२) अल्पकालिक कर्म वे हैं जिनका फल कुछ समय बाद मिलता है, जैसे आज किसी वृक्ष का बीज बोया जाए, तो वह वृक्ष और उसके फल एक निश्चित काल के पश्चात ही प्राप्त होंगे, तत्काल नहीं ।

(३) तीसरे संचित कर्म हैं जो प्राणी—यहां हम चर्चा मनुष्य की कर रहें हैं—पिछले जन्मों में कर चुका है पर उनका फल प्राप्त नहीं हुआ । इस जन्म में जब इन संचित कर्मों का फल प्राप्त होता है तब उसे ही "भाग्य" या "दैव" कहा जाता है । शास्त्रकार कहते हैं—

पूर्वजन्म कृतं कर्म तद्दैवमिति वक्ष्यते ।

पिछले जन्मों में किये गये कर्म ही "दैव" कहे जाते हैं। भाग्य व दैव कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो आकाश से लटक रहा हो, अथवा वृक्ष पर लगा हो, पकड़कर जेब में डाल लिया जाए। मानव के अपने ही पूर्व जन्म व पूर्व काल में किये संचित कर्म जब वर्तमान जन्म में फल का रूप धारण करते हैं, तब "भाग्य" व "दैव" कहे जाते हैं।

भाग्य और पुरुषार्थ

इस सम्बन्ध में एक अन्य वैदिक सिद्धान्त सदा ध्यान में रखना चाहिए। "दैव" व "भाग्य" भी तभी सफल हो सकता है जब पुरुषार्थ किया जाए। इसीलिए केवल भाग्य के भरोसे बैठे रहना और पुरुषार्थ न करना जीवन को निरर्थक बनाना है। रथ के दो पहियों के समान भाग्य और पुरुषार्थ दोनों पहिये हैं जिनका भली-भांति सहयोग होने से ही सुख की प्राप्ति हो सकती है। नीतिकार के शब्दों में—

उद्योगिनं पुरुषसिंह मुपैति लक्ष्मीः।
दैवंहि दैवमिति कापुरुषाः वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुष मात्म शक्त्या।
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्रदोषः॥

सिंह रूप उद्योगी व्यक्ति को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है। सोये हुए सिंह के मुंह में स्वयं मृग प्रवेश नहीं करते। केवल "दैव" की दुहाई डरपोक मनुष्य ही देते हैं और यदि यत्न करने पर भी सफलता प्राप्त न हो तो इससे निराश नहीं होना चाहिए, प्रयत्न करते रहना चाहिए। प्रयत्न का फल इस जन्म में यदि नहीं मिला तो समय आने पर अथवा अगले जन्म में अवश्य मिलेगा। थोड़ा-सा भी प्रयत्न कभी निरर्थक नहीं जाता है, ऐसा विश्वास करना चाहिए।

कर्म करने में स्वतंत्र, फल प्राप्ति में परतंत्र

मनुष्य को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि वह किसी अंश तक कर्म करने में स्वतंत्र है पर फल प्राप्ति में वह सर्वथा परतंत्र—ईश्वरीय नियमों में—आबद्ध है। कोई भी व्यक्ति भले ही वह कितना शक्तिशाली, महान् अथवा विद्वान्—श्रेष्ठ से श्रेष्ठ—हो—जो वह चाहे वह हो जाए—ऐसा कभी नहीं हो सकता। उसके कर्म करने की स्वतंत्रता सीमित है। साथ ही ऐसा व्यक्ति यदि चाहे कि वह कर्म फल से बच जाए तो यह भी असम्भव है। फलतः, मानव किसी अंश तक कर्म करने में जहां स्वतन्त्र है वहां फल प्राप्ति में सर्वथा परतन्त्र है।

कर्म और कर्म फल के सम्बन्ध में इन कुछ नियमों को हृदयंगत कर लेने से मानव संसार में अपने कर्त्तव्य पथ से कभी डांवाडोल नहीं हो सकता।

सदा जागते रहो—वेद

पुण्य मार्ग पर अविचल भाव से चलने और पाप से सदा बचने के लिए मानव को प्रतिक्षण जागरूक रहने की आवश्यकता है। उपनिषत्कार के शब्दों में—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥ कठ ३।१४

पुण्य का मार्ग छुरे की धार के समान है। श्रेष्ठ पुरुष इसे कठिन मार्ग बताते हुए भी सतत इसी पर चलने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

इसीलिए प्रतिक्षण सावधान रहने की नितान्त आवश्यकता है।

ओ३म् । यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति । यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

ऋग्० ५ । ४४ । १४

जो जागता है उसे ऋग् वेद का ज्ञान, साम वेद की उपासना शक्ति प्राप्त होती है। जो जागता है उसे शक्ति और आनन्द के भंडार प्रभु कहते हैं कि "मैं तेरा मित्र हूँ।" ऋग् वेद और साम वेद के निर्देश से यजुर्वेद के कर्म और अथर्व वेद की भक्ति का स्वतः ग्रहण हो जाता है।

एक संत ने ठीक ही कहा है—

ज्यों तिल मांही तेल है, ज्यों चकमक में आग।
त्यों साईं तुझमें बसे जाग सके तो जाग॥

जाग लय नर जाग लय क्यों गाफिल सोया।
जो तन उपजया संग है सो भी संग न होया॥

उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहां जो सोवत है।
जो सोवत है सो खोवत है जो जागत है सो पावत है॥

——

२०

मानव जीवन का सबसे बड़ा प्रश्न "मैं कौन हूं" (कोऽहमस्मि) (Who am I?)

पहले प्रश्न—फिर उत्तर

मानव, स्वभावत:, जिज्ञासु है। अपनी विचार शक्ति और पृष्ठभूमि के अनुसार वह अपने चारों ओर के परिवेश को जानने की इच्छा करता रहता है। एक छोटा बच्चा अपनी जिज्ञासा पूरी करने के लिए अपने माता-पिता, अभिभावक, शिक्षक इत्यादि से लगातार प्रश्न करता रहता है। आयु और शिक्षा की वृद्धि के साथ-साथ प्रश्नों का स्तर और मापदंड भी बदलता व ऊँचा-नीचा होता जाता है। सामान्य व्यक्ति के जीवन में एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जब वह जानबूझ कर प्रश्न करने और उसका उत्तर खोजने के प्रति उदासीन हो जाता है। वह सोचता है

कि इस झमेले में कौन पड़े ? पर जो असामान्य, असाधारण, अद्वितीय व्यक्ति और महापुरुष होते हैं वे अपने प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ने, जिज्ञासा पूर्ति के लिए अपने सारे जीवन की बाजी लगा देते हैं । वैज्ञानिकों के हृदय में सृष्टि की किसी छोटी-सी घटना को देख प्रश्न पैदा हुआ और उसका हल करने के लिए उन्होंने सारा जीवन लगा दिया । इसीके परिणामस्वरूप, मानव वैज्ञानिक आविष्कार करता हुआ प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों में इतनी उन्नति कर सका है । जिज्ञासा और प्रश्न शक्ति जितनी बलवती होगी, उसका समाधान भी उतना ही शीघ्र होगा । श्रीकृष्ण गीता के ७।१३-१७ श्लोकों में ठीक ही कहते हैं कि—

"भक्त चार प्रकार के होते हैं, (१) आर्त्तः (दुःखी) (२) जिज्ञासुः (३) अर्थार्थी (किसी इच्छा की पूर्ति चाहने वाला) और (४) ज्ञानी । इन सबमें ज्ञानी ही विशिष्ट हैं।"

"जिस समय जिज्ञासु अपनी ज्ञान प्राप्ति की कामना सफल कर लेता है, तब वही ज्ञानी बन जाता है । भक्त का सर्वश्रेष्ठ रूप यही है ।

गीता का प्रारम्भ ही शिष्य रूप में अर्जुन द्वारा श्रीकृष्ण से **पृच्छामि त्वां धर्म सम्मूढ़चेताः** । (२।७) "धर्म को ठीक प्रकार न जानने वाले चित्त के कारण तुझसे पूछता हूं", इन शब्दों से हुआ है । श्रीकृष्ण भी अर्जुन को उपदेश देते हुए यही कहते हैं कि—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" (४ । ३४)

तू इस ज्ञान के लिये नम्रता पूर्वक प्रश्न पूछने और सेवा से जानने वाला हो । वेदान्त दर्शन का प्रारम्भ ही "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" 'ब्रह्म' जानने की प्रबल इच्छा—इन शब्दों से होता है ।

इस विश्व-वैचित्र्य को देख मानव आश्चर्यान्वित हो उसके रहस्य को जानने के लिए उतावला हो जाता है । अगर यह ज्ञान पिपासा न होती, तो मानव किसी भी क्षेत्र में उन्नति न कर सकता । वेद में कई मंत्र ऐसे हैं जिनमें प्रभुभक्त जिज्ञासा पूर्ति के लिए प्रश्न करता है और भगवान् वैदिक ऋचाओं द्वारा तत्काल उसका उत्तर प्रकट करते हैं ।

अपने आप से छः प्रश्न प्रतिदिन पूछो

मानव जहाँ बाह्य जगत् की विविधता देख जिज्ञासु बनता है, वहां उसे अपने भीतर—आत्मा में स्वयं प्रश्न पूछ कर स्वयं ही उसका उत्तर देने का साहस करना चाहिए । सामान्य पुरुष अपने से स्वयं प्रश्न करने से घबराता है और डरता भी है । इसलिए, जब उसके अन्तरात्मा में कोई प्रश्न बार-बार सिर उठाता है तब वह उसे दबा देने, भुला देने व किसी प्रकार टालने की चेष्टा करता है । श्रेष्ठ और ज्ञानी इस प्रकार के आन्तरिक प्रश्नों से तनिक भी न घबरा कर उनका साहस से सामना करता है और प्रभु से समुचित समाधान करने की शक्ति माँगता है । शास्त्र-कार कहते हैं कि मानव को निम्न छः प्रश्न प्रतिदिन अपने से करने चाहिए—

क्वासं क्व च गमिष्यामि कश्चाहं किमिहागतः ।
को बन्धुर्मम कस्याहं इत्यात्मानं विचिन्तय ॥

(१) मैं कौन था ? (२) कहां जाऊंगा ? (३) मैं कौन हूँ ? (४) यहां क्यों आया ? (५) मेरा बन्धु कौन है ? (६) मैं किसका हूँ ? यह प्रश्न अपनी आत्मा में स्वयं सोचें। एक अन्य नीतिकार के शब्दों में—

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ।।

ये छः प्रश्न बार बार अपने भीतर पूछे (१) मेरी आयु का क्या हाल है। (२) मेरे कौन मित्र हैं ? (३) कैसी परिस्थिति है ? (४) आय और व्यय क्या है ? (५) मैं कौन हूँ ? (६) मेरी शक्ति क्या है ?

"प्रश्नोपनिषद्" तो हैं—"उत्तरोपनिषद्" नहीं

प्रश्न और उत्तर—इन दोनों में से किस की प्राथमिकता है ? अगर प्रश्न ही नहीं तो उत्तर किसका होगा ? इसलिए प्राथमिकता प्रश्न की है ? उपनिषदों में चौथी "प्रश्नोपनिषद्" है। छः ब्रह्मचारी, जिनमें एक राजकुमार भी था, जो "जिज्ञासु" और "ब्रह्मनिष्ठ" थे—हाथ में समिधा लेकर ऋषि पिप्पलाद की सेवा में विनयावनत हो अपने प्रश्न लेकर पहुँचे। आचार्यवर ने कहा—"तप" "ब्रह्मचर्य और "श्रद्धा" पूर्वक एक वर्ष तक मेरे आश्रम में निवास करो। यदि इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये तो इच्छानुसार प्रश्न करना और "यदि हम उसका उत्तर जानते होंगे, तब सब कुछ बता देंगे।" शिष्य जहां विनीत है वहाँ आचार्यश्री भी कितने निराभिमानी हैं। अपने को "सर्वज्ञानी" होने का दम्भ नहीं करते। ब्रह्मचारियों के सब प्रश्नों का उत्तर देकर पिप्पलाद ऋषि अन्त में यही कहते हैं "शिष्यो ! बस, मैं उस परब्रह्म के विषय में इतना ही जानता हूँ, अधिक नहीं।" आचार्य पाद से विदा होते छःहों शिष्य भी कितने विनय से कहते हैं—

"आचार्य वर ! आप तो हमारे पिता हैं जिन्होंने हमें अविद्या से पार उतार दिया है।" इसलिए—

"नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः।"

आप सदृश परम पूज्य ऋषि चरणों में हमारा बार-बार नमस्कार।"

प्रश्न और उत्तर का एक दूसरे से क्या सम्बन्ध है—यह इस "प्रश्नोपनिषद्" के संवाद से स्पष्ट है। ग्यारह उपनिषदों में प्रश्नों और उत्तरों की भरमार है। पर किसी उपनिषद् का नाम "उत्तर उपनिषद्" नहीं। कारण, उपनिषत्कार जानते थे कि प्राथमिकता प्रश्न की है, उत्तर का स्थान उसके बाद है।

६ ब्रह्मवादी ऋषियों के प्रश्न और उनके उत्तर

अन्तिम ग्यारहवीं उपनिषद् "श्वेताश्वतर" है। इसका प्रारम्भ ही छः ब्रह्मवादी ऋषियों ने इन पाँच प्रश्नों से किया है:—

(१) किं कारणं ब्रह्म (२) कुतः स्म जाताः (३) जीवामो केन (४) क्व च संप्रतिष्ठाः (५) अधिष्ठताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्। १।१

(१) सृष्टि का कारण क्या ब्रह्म है। (२) हम कहाँ से हुए (३) किस शक्ति

के आधार पर हम जीते हैं ? (४) किस आधार पर ठहरे हैं ? (५) किस की व्यवस्था में बँधे हुए हम सुख-दुःख भोगते हैं ?

तब इन छहों ऋषियों ने फिर ध्यान किया और कहा—

> ते ध्यान योगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढम् ।
> यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधि-
> तिष्ठत्येकः ॥ श्वेताश्वतर उपनिषद् १।३

ऋषियों ने ध्यान से उस दिव्य शक्ति को देखा जिसमें यह आत्म शक्ति निगूढ है । वही देव ऊपर कह गये "काल" से लेकर आत्मा तक—सबका एकमात्र अधिष्ठाता है ।

केन्द्र बिन्दु "मैं"

संसार में प्रतिदिन आजन्म व्यवहार करते हुए मनुष्य के सामने कई प्रश्न आते हैं और वह उनका यथाशक्ति और यथाबुद्धि हल करता रहता है । इस प्रकार जीवन चक्र चलता रहता है । पर ये प्रश्न कहाँ उत्पन्न होते हैं और कौन इनका समाधान करता है ? क्या प्रश्न-उत्तर का चक्र शरीर के अंगों में चलता है ? नहीं । क्यों कि जिस समय शरीर में से जीव निकल जाता है, तब इन्द्रियाँ तो सारी होती हैं । पर तब कोई प्रश्न-उत्तर का चक्र शरीर के अंगों में चलता है ?नहीं । इससे पता चला प्रश्न-उत्तर का केन्द्र और उत्पत्ति स्थान इस शरीर के अतिरिक्त कोई अन्य है । मनुष्य की भाषा में सब से अधिक और केन्द्र रूप शब्द "मैं" (अहम्) है । इसी से जुड़े हुए व इसी के शाखा रूप शब्दों से मानव की भाषा भरी पड़ी है । जीवन की अनगिनत क्रियायें, चेष्टायें और व्यवहार इसी "मैं" के साथ बंधे हुए हैं, "मैं" से ही सम्बद्ध और इसी की अपेक्षा से दूसरों को "तू" व "तुम" "वह" व "वे" इत्यादि शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। एक क्षण के लिये हम कल्पना करलें कि "मैं" शब्द का कोई अस्तित्व ही नहीं है, तब मानव के सारे बाह्य व आन्तरिक व्यवहार सर्वथा ठप्प हो जायेंगे ।

"मैं क्या" यह "शरीर" है ?

इस लिये मानव जीवन का सबसे बड़ा प्रश्न यह जानना है कि "मैं" क्या है ? क्या शरीर "मैं" है ?नहीं । क्योंकि शरीर में से किसी सत्ता के निकल जाने के बाद, शरीर के सब अंगों के यथावत् विद्यमान रहने पर भी, "मैं" की अनुभूति नहीं होती। इससे पता चला कि "मैं" का अस्तित्व शरीर के अस्तित्व से पृथक् है, यद्यपि दोनों का पारस्परिक संयोग, कुछ अवधि तक, अवश्य रहता है । इसी का नाम जीवन है । जिसके रहने से इन्द्रियाँ काम करें और न रहने से इन्द्रियाँ लोष्ठवत् हो जाए, तब, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि प्रधानता उसी की ह जिसके अस्तित्व से ही इन्द्रियों सहित शरीर क्रियाशील रहता है, शरीर तो गौण रूप से उस सत्ता का साधन मात्र है।

इस सत्ता का नाम ही "आत्मा" है। "अहं" का महत्व "आत्मा के अस्तित्व

से ही है, अन्यथा केवल पांचभौतिक शरीर जड़वत् ही है। इसलिये, मानव जीवन का सब से मुख्य, सबसे प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न इस "अहम्" "आत्मा" के स्वरूप को ही पूर्ण रूप से जानना, समझना और चिन्तन करना है।

वेदान्त दर्शन के तीसरे अध्याय में तीसरे पाद सूत्र ५३ में यह शंका की गयी है कि "आत्मा" का अस्तित्व के मान लेने पर भी वह शरीर से पृथक् नहीं है। शरीर से कुर्ते को अलग कर देने पर भी दोनों का अस्तित्व रहता है, इसी प्रकार आत्मा और शरीर का पृथक्-पृथक् अस्तित्व मान लिया जाये। वेदान्त दर्शन के ३।२।५५ के सूत्र का भाष्य करते हुए इस शंका का आचार्य शंकर ने युक्तिसंगत समाधान किया है। आचार्य कहते हैं कि यदि देह का ही धर्म चेतनता मानते हो तो देह होते हुए भी ज्ञान का अभाव देखा जाता है। जैसे उन्माद,, मूर्च्छा, स्मृति नाश, हृदय रोग आदि में। इसलिए ज्ञान शरीर का धर्म नहीं है। रूप आदि देह के धर्म हैं। वे मरने के बाद भी कुछ समय तक रहते हैं परन्तु स्मृति आदि देह के धर्म नहीं, मृत्यु के बाद शरीर में से इनका सर्वथा अभाव हो जाता है। कुर्ते और शरीर का उदाहरण असंगत है क्योंकि दोनों एक दूसरे से पृथक् होकर भी किसी चेतन शक्ति की प्रेरणा से कुछ काल के लिए मिल सकते हैं। आत्मा और शरीर, व्यक्ति की अपनी इच्छा से किसी खूँटी पर न टाँगे जा सकते और न मिलाये जा सकते हैं। देह रहने पर भी मृतावस्था में प्राणादि की चेष्टा नहीं होती।

पश्चिम के विचारक मन (माइन्ड) व मस्तिष्क (ब्रेन)—क्योंकि वे दोनों को एक ही मानते हैं—को ही चेतन तत्त्व स्वीकारते हैं। आत्मा को पृथक् मानने की उनके मत में कोई आवश्यकता नहीं। पश्चिम के कुछ मनोवैज्ञानिक यह भी कहते हैं कि पंचभूतों के मिलने से ही एक प्रकार की शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है—जैसे शराब से नशा—जो देह से भिन्न होते हुए भी देह में विद्यमान रहती है। इसलिए "आत्मा" की एक पृथक् तत्व के रूप में कोई आवश्यकता नहीं है।

"आत्मा" —मन और पंचभूतों से पृथक्

पर यह एक हेत्वाभास ही है। इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान मन में संगृहीत होता है पर इन्द्रियों के चंचल होने से मन में प्राप्त ज्ञान भी अस्थिर होता है, क्षण-क्षण में परिवर्तित होता रहता है। मन में संगृहीत इन चंचल अनुभूतियों के अतिरिक्त एक स्थायी तत्त्व है, जैसे माला के मनकों को जोड़ने वाला एक सूत्र, नदी के जल-प्रवाह के नीचे उस का धरातल। इसलिए मानसिक अनुभूतियों का आधार एक स्थायी तत्त्व मानना पड़ेगा। यही "आत्म तत्त्व" है। फलतः, केवल मनोविज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान के बिना अधूरा है। वस्तुतः, दोनों का निकट सम्बन्ध है।

दूसरी युक्ति कि पंचभूतों के मेल से स्वतः चैतन्य शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है, सर्वथा लंगड़ी है। पंचभूतों के मेल के अभाव में भी चैतन्य शक्ति का अस्तित्व रहता है। फिर, जितनी बार पंचभूतों का मेल हो, उतनी बार ही चेतना प्रकट हो गयी। तब उसके समाप्त होने पर इस शक्ति का विनाश हो जाना चाहिए। पर ऐसा तो नहीं होता। प्रत्येक आत्मा नया शरीर धारण करता हुआ अपने साथ गत जन्म-जन्मान्तरों के अनेक संस्कार लाता है। प्रत्येक देहधारी मानव की एक सदृश माता पिता, परिवेश इत्यादि समस्त बाह्य अवस्थाओं के होते हुए भी जन्म जात विभिन्नता और विषमता इस के प्रमाण हैं। इसी युक्ति की पुष्टि करते हुए

शंकराचार्य वेदान्त दर्शन के ३।२।५५ सूत्र के भाष्य में कहते हैं:—

जो ज्ञेय है वह स्वयं ज्ञाता नहीं बन सकता, विषय स्वयं विषयी नहीं हो सकते। जैसे आग अपने को नहीं जला सकती, नट अपने ही कन्धे पर स्वयं नहीं चढ़ सकता, रूप स्वयं अपने वा दूसरे के रूपों को नहीं देख सकता। फलतः, ज्ञाता आत्मा ज्ञेय पंचभूत आदि से पृथक् ही है। शराब मृत के मुख में डाल देने से नशा नहीं ला सकती। वह तभी नशा ला सकती है जब शरीर का सम्बन्ध चेतना के साथ हो। इसलिए आत्मा निश्चय ही शरीर से पृथक् चेतन तत्त्व है। "पंचभूतों के मेल से स्वतः चेतन शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है"—अगर यह मान लिया जाए तो पंचभूत तो जड़ हैं, इनका निश्चित काल और मात्रा में स्वतः संयोग कैसे होगा, फिर संयोग के बाद वियोग नहीं हो सकता। बिना चेतना शक्ति माने यह कार्य स्वतः असम्भव है।

"आत्मा"—केवल "दिमागी जिमनास्टिक" का विषय नहीं

प्रसंगवश यहाँ एक अन्य प्रकार की भ्रान्त धारणा का उल्लेख करना भी आवश्यक है। कुछ व्यक्ति यह कहते सुने जाते हैं कि आत्मा शरीर से पृथक् तत्त्व है अथवा शरीर स्वतः चेतन तत्त्व है, अथवा कुछ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के अनुसार केवल मात्र मन ही चेतन शक्ति है—इन सब विवादों के पचड़े में पड़ने की क्या आवश्यकता है? यह तो कुछ विद्वानों के आपसी मतभेद हैं जो सृष्टि के प्रारम्भ से चले आ रहे हैं, और सृष्टि के अन्त तक भी इन का निर्णय नहीं होगा। इस प्रकार के शुष्क "बौद्धिक जिमनास्टिक" से सामान्य व्यक्ति का क्या बनता-बिगड़ता है। उसके लिए तो इतना ही बहुत है कि किसी के साथ बुरा व्यवहार न करता हुआ अपनी जीवन गाड़ी चलाता जाए। आगे क्या होगा, अगला जन्म कैसा होगा, यह कौन जानता है। यह तो एक वृथा सिरदर्द है।

इस प्रकार का चिन्तन मानव के लिए सर्वथा हानिकारक है। यदि मनुष्य को पशुवत् नहीं बनना है और मनुष्यत्व की श्रेष्ठता को स्थिर रखना है, तब केवल वर्तमान का ही चिन्तन करना और भूत-भविष्य काल को सर्वथा भुला देना उसके लिये सम्भव नहीं है। वर्तमान काल को भूत-भविष्य से कभी पृथक् नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति केवल पांचभौतिक देह को ही सब कुछ समझता और आत्मा को शरीर से पृथक् व इसके अस्तित्व को भी नहीं मानता, उस का जीवन, आपाततः, शरीर और इन्द्रियों के विषयों में ही आसक्त रहेगा। व्यक्ति के जीवन में एक ऐसी स्थिति अवश्य आयेगी, जब शरीर और इन्द्रियां सर्वथा शक्ति हीन, अनुभूति शून्य और निष्क्रिय हो जाती है। उस समय, बाध्य होकर, यह मानना पड़ता है कि शरीर के अतिरिक्त भी एक शक्ति इसमें विद्यमान है जिसे भोग लिप्सा में पड़ सर्वथा निस्तेज बना दिया गया है। आज के कल्पनातीत भोग-विलास पूर्ण जीवन के परिणामस्वरूप न केवल धार्मिक और नैतिक अपितु राजनीतिक, सामाजिक पारिवारिक तथा वैयक्तिक जीवन परिधियां अस्त-व्यस्त हो गयी हैं। आत्म तत्त्व की सर्वथा उपेक्षा कर और अस्थि चर्म मय शरीर को ही सर्वस्व समझ कर अच्छे और श्रेष्ठ मार्ग पर चलने तथा "दूसरों के प्रति भलाई करते रहने" का दावा करना दम्भ मात्र ही है। कर्त्तव्य पथ पर चलने की प्रेरणा तभी मिल सकती है और

वह तभी स्थिर रह सकती है जब किसी सर्वोच्च, विशुद्ध, शक्ति सम्पन्न तत्त्व में अटूट निष्ठा हो। इसलिए, वैदिक धर्म का यह सिद्धान्त है कि आत्मा और परमात्मा में अडिग विश्वास और शरीर को चेतन शक्ति आत्मा का साधन रूप समझना और इस सिद्धान्त को जीवन में सक्रिय अपनाना—केवल "दिमागी खेल व खुजली" सदृश नहीं— किन्तु त्रिकालाबाधित सत्य है, व्यवहार्य है और ठोस रूप में लाना आनन्द के अभिलाषी प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपरिहार्य है। श्वेताश्वतर उपनिषत्कार ने ६।२० इस शंका का समाधान इन शब्दों में किया है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तं भविष्यति ।।

जब इस आकाश को चमड़े की तरह शरीर पर मानव ओढ़ लेगा, तभी दिव्य शक्ति परमात्मा, आत्मा की परवाह न करता हुआ दुःख से छूट जायेगा। जैसे आकाश को ओढ़ना असम्भव है ऐसे ही दिव्य शक्ति की अवहेलना कर दुःख से छूटना असम्भव है।

आत्मा का स्वरूप

अब प्रश्न उठता है कि इस आत्मा का स्वरूप क्या है, और इसकी पहचान के चिह्न क्या हैं ?

न्याय दर्शन १।१।१० सूत्र में आत्मा के चिह्न यह बताये गये हैं—

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति ।

आत्मा के यह छः चिह्न हैं (१) इच्छा (२) द्वेष (३) प्रयत्न (४) सुख (५) दुःख और (६) ज्ञान। वैशेषिक दर्शन के ३।२।४ सूत्र में इन्हीं चिह्नों की अधिक व्याख्या रूप १२ चिह्न बताये गए हैं। प्रश्न उपनिषद् में पिप्पलाद ऋषि ने एक प्रश्न के उत्तर में आत्मा का स्वरूप निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया:—

एष हि द्रष्टा, स्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः । (४।८)

इस ऋषि वाक्य में आत्मा के स्वरूप के ७ अंग वर्णित हैं—

यह आत्मा (१) देखने वाला (२) विचारों का बनाने वाला (३) सुनने वाला (४) मनन करने वाला (५) जानने वाला (६) करने वाला (७) ज्ञान युक्त है आत्मा के इन सब गुणों को यदि संक्षेप मे कहें तो तीन शब्दो मे कह सकते, है जैसा उपनिषदों में कहा गया है।

ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता—ज्ञान, कर्म, भोग—तीनों गुण जिसमें विद्यमान हैं—ऐसा चैतन्य शक्ति युक्त आतमा है।

प्रजापति ऋषि की सेवा में इन्द्र शिष्य

आत्मा के स्वरूप को छान्दोग्य उपनिषद् प्रपाठक ८, खंड ७ में एक सुन्दर संवाद द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

देवों और असुरों की पृथक् सभा आत्मा के स्वरूप का निश्चय करने के लिये हुई। जब वे कुछ निश्चय न कर सके, तब देवों का प्रतिनिधि इन्द्र और असुरों का

प्रतिनिधि विरोचन—दोनों प्रजापति ऋषि की सेवा में गये। ऋषि आदेश के अनुसार जब प्रत्येक ३२ वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत पालन कर चुका तब ऋषि ने कहा—जल भरा एक मिट्टी का पात्र ले आओ। दोनों ले आये। ऋषि—इसमें अपनी आकृति देखो। दोनों ने उस पात्र में अपनी अपनी आकृति देखी। ऋषि ने कहा—बस, यही आत्मा है। दोनों अपनी अपनी सभाओं में वापस गये और आत्मा का स्वरूप, ऋषि के निर्देशानुसार बताया। असुर तो बड़े प्रसन्न हुए कि हमें आत्मा का स्वरूप पता लग गया है। "यह शरीर ही तो आत्मा है। इसे मोटा, ताजा, सुन्दर बनाओ" असुर इसी मार्ग पर चल पड़े।

इन्द्र जब देवों की सभा में पहुँचा तब उन्होंने कहा "तुम तो अधूरा ज्ञान लाये हो। यदि यह शरीर ही आत्मा है, तब यह तो हर क्षण परिवर्तनशील है। तब क्या आत्मा भी प्रतिक्षण बदलने वाला है? तुम ऋषि के पास पुनः जाओ और यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके आओ।"

इन्द्र प्रजापति ऋषि की सेवा में पुनः आया। बोला भगवन्! यदि यह शरीर ही आत्मा है तब शरीर के अलंकृत होने पर वह अलकृत, सुन्दर वस्त्र पहनने पर सुन्दर वस्त्र वाला, अंधा होने पर अन्धा, काना होन पर काना, लंगड़ा लूला होने पर लंगड़ा - लूला और शरीर के नष्ट हो जाने पर यह भी नष्ट हो जायगा—

"नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति"

जो यह सब सुख-दुःख का भोक्ता है उसे तो मैं यहाँ देख नहीं पा रहा हूँ।

प्रजापति ऋषि ने ब्रह्मचर्य तपस्या द्वारा इन्द्र की पुनः परीक्षा लेने के बाद कहा—

"य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति"

यह जो स्वप्न में महिमायुक्त रहता है, वही आत्मा है।

इन्द्र वापस चला आया। उसे पुनः शंका हुई। आचार्य सेवा में आकर बोला—

"स्वप्न में तो प्रिय अप्रिय दोनों प्रकार के अनुभव होते हैं, साँसारिक पदार्थों की प्राप्ति, मार-पीट, रोना इत्यादि। ऐसा तो आत्मा नहीं हो सकता।" प्रजापति ने इन्द्र की पुनः ब्रह्मचर्य तप की परीक्षा लेकर कहा, "सुषुप्ति में आत्मा के दर्शन होते हैं।" इन्द्र सन्तुष्ट हो वापस चला गया। पुनः ऋषि चरणों में आकर बोला—

भगवन्! इससे भी समाधान नहीं होता क्योंकि सुषुप्ति में **"अयमहमस्मीति न जानाति"** "मैं यह हूँ—ऐसा अनुभव नहीं होता।" इन्द्र पुनः वापस प्रजापति ऋषि की सेवा में आया। अब आचार्य को विश्वास हो गया कि यह शिष्य सच्चा जिज्ञासु है। इतनी बार ब्रह्मचर्य तप की परीक्षा लिये जाने पर भी यह लक्ष्य-च्युत नहीं हुआ है। यह उपदेश का अधिकारी है।

प्रजापति द्वारा उत्तम पुरुष का स्वरूप

तब प्रजापति ने इन्द्र को चार उपदेश दिये—

(१) यह शरीर मृत्यु का भोजन है।

(२) अमृत रूप और अ-शरीर आत्मा का यह शरीर अधिष्ठान है।

(३) जब तक आत्मा इस शरीर के साथ अपने को एक समझ कर रहता है, तब तक सुख-दुःख का भी अनुभव रहेगा क्योंकि शरीर के साथ रहते हुए प्रिय-अप्रिय के अनुभव से छुटकारा नहीं मिल सकता।

(४) अपने उपदेश के सार रूप में प्रजापति ने चौथी शिक्षा दी—

"अशीररं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।"

आत्मा को अशरीर रूप समझने से ही प्रिय-अप्रिय का स्पर्श नहीं हो सकता।

इन्द्र शिष्य ने प्रजापति आचार्य से पुनः प्रश्न किया कि इस अशरीरी आत्मा का ज्ञान कैसे हो? तब ऋषि प्रकृति के चार उदाहरणों से इन्द्र को समझाते हुए कहते हैं—

हे इन्द्र! आकाश की ओर देखो। पृथ्वी और आकाश के बीच चार पदार्थ विद्यमान हैं—

(१) वायु (२) अभ्र (मेघ) (३) विद्युत् (४) गर्जना।

पर ये चारों अशरीरी हैं। पर (१) वायु-सूर्य-रश्मियों के ताप से-गतिशील हो जाता है। (२) सूर्य की उष्णता से मेघ प्रकट होते हैं (३) सूर्य के प्रभाव से विद्युत् चमकने लगती है और (४) सूर्य की प्रेरणा से आकाश में गर्जना होती है।

प्रजापति ऋषि इन प्राकृतिक दृश्यों की ओर शिष्य का ध्यान आकृष्ट करते हुए इनके परिणाम रूप यह शिक्षा देते हैं कि—"जिस प्रकार ये चारों अशरीरी पदार्थ सूर्य के संयोग से आँखों के सामने प्रकट हो जाते हैं, इसी प्रकार "परम ज्योति" ब्रह्म के सान्निध्य से आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। ऋषि के शब्दों में—

"अस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तम पुरुषः।"

यह आत्मा इस शरीर से निकल कर उस परमज्योति रूप ब्रह्म के समीप पहुँच अपने वास्तविक रुप को प्राप्त कर लेता है। जो ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है वही उत्तम पुरुष है।

इस आत्मा की प्रबल जिज्ञासा हो—प्रजापति ऋषि

शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट करते हुए इस सन्दर्भ में प्रजापति ऋषि इन्द्र को बताते हैं कि—

"जैसे रथ के साथ जुड़ा हुआ भी घोड़ा उससे पृथक् ही होता है, वैसे ही यह प्राणशक्ति सम्पन्न आत्मा शरीर रूपी रथ में संयुक्त हुआ भी, वस्तुतः, उससे पृथक् ही है, वह शरीर नहीं है।"

अपने इस ज्ञानवर्द्धक प्रवचन को समाप्त करते हुए प्रजापति ऋषि इन्द्र को आत्मा का स्वरूप निम्न शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं—

"य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्य संकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । स सर्वान् लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् य स्तमानात्मानमनुविद्य विजानातीति ।"

इस उपर्युक्त कथन में ऋषि ने तीन उपदेश दिये हैं—(१) आत्मा का स्वरूप बताया है । कैसा है ?

(क) पाप रहित । आत्मा की स्वाभाविक प्रवृत्ति पुण्य की ओर होती है—यह हम "पाप-पुण्य मीमांसा" में स्पष्ट कर आये हैं । (ख) बुढ़ापे से रहित । (ग) मृत्यु से रहित (घ) सांसारिक पदार्थों के संयोग-वियोग से उत्पन्न हर्ष-शोक से रहित (ङ) भूख प्यास आदि शारीरिक विकारों से रहित ।

यह पाँचों गुण तो नकारात्मक बताये । अब (२) विधेयात्मक (सकारात्मक) रूप बताते हैं ।

(क) सत्यकामः=सत्य कामना युक्त । (ख) सत्य संकल्प=सत्य निश्चय युक्त । जिस समय आत्मा पाप के संस्कारों से रहित हो जाएगा, उस समय उसकी कामनाएँ और संकल्प सत्यरूप=विशुद्ध ही होंगे ।

(३) ऋषि इन्द्र को तीसरा उपदेश देते हैं :

(क) स अन्वेष्टव्यः—उसकी खोज करनी चाहिए । यद्यपि आत्मा सदा शरीर में स्थित है पर मनुष्य इतने समीप तत्त्व की गवेषणा नहीं करता, बाह्य पदार्थों की प्राप्ति में सारी आयु गंवा देता है ।

(ख) स विजिज्ञासितव्यः— दूसरा कर्तव्य ऋषि बताते हैं कि उसके जानने की प्रबल आकांक्षा होनी चाहिए । जितनी अधिक बलवती कामना होगी उतने ही अल्प काल में आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाएगी ।

(४) अब ऋषि उपसंहार करते हुए चौथी शिक्षा अन्त में फलरूप में बताते हैं कि जो इस प्रकार पर ब्रह्म ज्ञान को जानता हुआ इस आत्मा को जानता है, वह सब उत्तम स्थितियों को और सब शुभ कामनाओं को प्राप्त करता है ।

समाधि में भी ब्रह्म-जीव में भेद—दयानन्द

प्रजापति ऋषि और शिष्य इन्द्र के इस संवाद से आत्मा के स्वरूप और "परम ज्योति" ब्रह्म के सान्निध्य से उसके साक्षात्कार के हेतु "उत्तम पुरुष" का पद प्राप्त करने का मार्ग सुचारु रूप से ज्ञात हो जाता है । योग दर्शन, समाधिपाद का सूत्र ३—

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।"

तब द्रष्टा-आत्मा की अपने रूप में ही अवस्थिति हो जाती है । यहां यह तथ्य विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि शंकराचार्य के नवीन वेदान्त के मतानुसार आत्मा की ब्रह्म में परिसमाप्ति नहीं हो जाती और न ही ब्रह्म अपने को अभी तक अविद्या के जाल में फंसे होने से मुक्त हो शुद्ध ब्रह्म बन जाता है । किन्तु यह आत्मा द्रष्टा के रूप में अपने पृथक् अस्तित्व के साथ ब्रह्म दर्शन के आनन्द में मग्न

हो जाता है।

ऋषि दयानन्द के शब्दों में—

"समाधि दशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है तब वह कहता है कि यह जो मेरे में व्यापक है वही ब्रह्म सर्वव्यापक है। इसीलिए जो आजकल के वेदान्ती जीव ब्रह्म की एकता करते हैं, वे वेदान्त शास्त्र को नहीं जानते।" (सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास)

आत्मा की इस साक्षात्कार स्थिति का वर्णन वेद कितने भक्ति रस पूर्ण शब्दों में निम्न मंत्र में करता है :

ओ३म् । अयुतोऽहमयुतो म आत्माऽयुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्र मयुतो मे प्राणऽयुतो मे अपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥

अथर्व० १६ । ५१ । १

"इस ब्रह्म सान्निध्य से आत्मसाक्षात्कार द्वारा मैं बन्धन रहित हो गया हूँ, मेरा आत्मा महान् हो गया हैं ! मेरी इन्द्रियाँ और मेरे प्राण शक्ति-सम्पन्न हो गये हैं और मैं सब प्रकार आनन्द से आपूरित हो गया हूँ। तभी तो मत्रायणि उपनिषद् ४।४।९ में ऋषि कहते हैं।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा ।
स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते ॥

उस परमपद प्राप्ति की स्थिति का वर्णन, तब, वाणी से नहीं हो सकता। यह तो अपने अन्तःकरण से ही अनुभूत होता है।

आर्य कवि और गायक महता अमीचन्द के शब्दों में—

तुम्हारी दया से जो आनन्द पाया,
वाणी से गाए वह क्यों कर बताया।

गूँगे की रसना के सदृश,
कैसे बताऊँ, कि क्या आनन्द आया ॥

—

२१

आत्मा की १२ स्थितियां :
ब्रह्मार्पित आत्मा—मानव हृदय में ही

बृहज्जोति का स्वरूप—महर्षि दयानन्द के शब्दों में

आत्म साक्षात्कार के मार्ग के यात्री के लिए आत्मा की कई स्थितियाँ वेदों और उपनिषदों में बतायी गयी हैं। पर सबसे पहले आधार रूप जो स्थिति हैं, वह यजुर्वेद ११। १ के निम्न मंत्र में इस प्रकार निर्दिष्ट है—

ओ३म्। युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम्।
अग्नेर्ज्योति निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥

ऋगवेदादिभाष्य भूमिका के उपासना प्रकरण में इस मंत्र का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं—

योग को करने वाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्वज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान से पहले जब अपने मन को परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब परमेश्वर उनकी बुद्धि को अपने में युक्त कर लेता है। फिर, वह परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके यथावत् धारण करते हैं। पृथिवी के बीच योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है।

यजुर्वेद के इसी अध्याय के तीसरे मंत्र की व्याख्या में महर्षि लिखते हैं—

"वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको (साधकों को) युक्त करके उनकी आत्माओं में बड़े प्रकाश (बृहज्ज्योतिः) को प्रकट करता है।"

यजुर्वेद के इसी अध्याय के ५वें मंत्र—

ओ३म्। युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभि र्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि तस्थुः॥

महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के उपासना प्रकरण में इसका अर्थ करते हुए कितना भक्तिरस पूर्ण उपदेश आत्मजिज्ञासु के लिए परमात्मा की ओर से उपस्थित करते हैं—

"उपासना का उपदेश देने वाले और ग्रहण करने वाले—दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि जब तुम सनातन ब्रह्म की सत्य-प्रेम भाव से

अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्काराबि रीति से उपासना करोगे, तब मैं तुमको आशीर्वाद दूंगा कि सत्य कीर्ति तुम दोनों को प्राप्त हो। किसके समान ? जैसे परम विद्वान् को धर्म मार्ग यथावत् प्राप्त होता है। इसी प्रकार तुमको सत्य सेवा से सत्य कीर्ति प्राप्त हो। फिर भी मैं सबको उपदेश करता हूं कि—

हे मोक्ष मार्ग के पालन करने वाले मनुष्यो !! तुम सब लोग सुनो कि—जो दिव्य लोकों, अर्थात्, मोक्ष सुखों को पूर्व प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासना योग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त होओ। इसमें सन्देह न करो। इसलिए मैं तुमको उपासना योग में युक्त करता हूं।"

महर्षि दयानन्द ने वेद मंत्र की इस भावपूर्ण व्याख्या में आत्म-जिज्ञासु साधक के लिए अत्यन्त स्फूर्तिप्रद उपदेश, अपने अनुभव के आधार पर दिया है। इस स्थिति में पहुँचा भक्त यही कहता हैं—

वह दिन ईश कृपा करे कि पर्दा भी वहां न हो।
मैं होऊँ, तुम हो और कोई दरमियां न हो ॥

आत्मा की १२ स्थितियां-वेद के अनुसार

वेद मानव मात्र को "अमृतपुत्र" के अनुपम शब्द से सम्बोधित करता है। आत्मा को इस उच्च स्थिति तक पहुंचने के लिए कई स्तरों में से गुजरना पड़ता है। वेदों और उपनिषदों में इन स्तरों का वर्णन विविध स्थलों पर अंकित है। हम यहीं एक मंत्र का उल्लेख करते हैं जो ऋग्वेद में ४।४०।५ में, यजुर्वेद १०।२४ और १२।१४, तैत्तिरीय संहिता में ३।२।१०।१, शतपथ ब्राह्मण में ६।७।३।११ में और कठ उपनिषद् में यम ऋषि द्वारा नचिकेता ब्रह्मचारी को दिये गये उपदेश ५।२ में—इस प्रकार विविध स्थानों पर निर्दिष्ट हैं—

ओ३म्। हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् होता वेदिषद् अतिथि दुरोणसत्।
नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद् अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहद् ॥

इस मंत्र में आत्मा की १२ स्थितियों का वर्णन करते हुए अन्त में परमात्मा की सर्वोच्चता का निर्देशन दिया गया है।

(१) हंस

हंसः शुचिषद—आत्मा का सबसे पहला गुण कहा गया, हंस के समान "शुचिषद" पवित्रता में स्थित। वैदिक भाषा के अनुसार "हंस" का रूप "ह ऽ सः" भी हैं। इसमें दो अक्षर हैं, "ह", धातु "ओहाक्-त्यागे" "ह" का अर्थ हुआ त्याग करने वाला। "स" "सार ग्रहणे" धातु, अर्थात् "सारतत्त्व ग्रहण करने वाला" "ऽ" शब्द दोनों का संयोजक है। अभिप्राय यह कि "हंस" वह है जो अनावश्यक और मिलावट का त्याग करने वाला और सार रूप तत्त्व को ग्रहण करने वाला हो।

"हंस" नामक जो पक्षी है, उसमें यह दोनों गुण हैं। एक तो असार, मिलावट को छोड़ सार रूप तत्त्व को ग्रहण करने वाला और दूसरा उसके पंख पूर्णतः श्वेत, मल रहित, शुचि रूप—होते हैं। आत्मा को भी हंस के सदृश गुण ग्रहण और दोष त्याग करते हुए "शुचि षद्"—पवित्र स्थिति में रहना चाहिए। इसी भाव को भी दृष्टि में रखते हुए योगियों और महात्माओं को "परम हस" कहा जाता है। हंस पक्षी का ग्रहण और त्याग क्या है? नीतिकार के शब्दों में—

नीर क्षीर विवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुना कुलव्रतं पालयिष्यति कः॥

संस्कृत साहित्य की कवि परम्परा के अनुसार सब प्राणियों में हंस ही एक-मात्र ऐसा है जो पानी मिले हुए दूध में से केवल दूध ही पीएगा, पानी छोड़ देगा। यही हंस का नीर-क्षीर विवेक है। कवि कहता है, हे हंस!! यदि तू ही इस नीर-क्षीर विवेक में प्रमाद करेगा तो विश्व में इस व्रत का पालन कौन करेगा?

किसी ने कहा है कि श्वेत रंग का तो बगुला भी होता है, तब नीतिकार कहता है—

हंसः श्वेतः बकः श्वेतः को भेदो बकहंसयोः।
नीर क्षीर विवेके तु हंसो हंसः बको बकः॥

यह ठीक है कि हंस श्वेत है बक भी श्वेत है। दोनों में भेद क्या है? दूध और जल को अलग करना नीर क्षीर विवेक—इसमें तो हंस समर्थ है, बगुला नहीं।

कारावास में लोकमान्य तिलक का आदर्श—हंस

भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम के मूर्धन्य नेता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जिस समय विदेशी सरकार द्वारा राजद्रोह के अपराध में देश निर्वासित हो छः वर्ष के लिए मांडला (बर्मा) कारागार में रखे गये थे, उस समय उन्होंने अपने कमरे में निम्न श्लोक हाथ से लिख टांगा हुआ था—

अम्भोजिनी वनविलासनमेव हन्त,
हंसस्य हन्तु नितरां कुपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्ध जल भेद विधि प्रसिद्धां,
वैदग्ध्य कीर्तिमपहर्तु मसौ समर्थः॥

हंस कमलवन में विचरता है। यह उसका परम्परागत अधिकार है। पर यदि कभी विधाता उस पर क्रुद्ध हो उसके इस अधिकार को छीन भी ले पर दूध और जल में भेद करने के उसके जन्मसिद्ध अधिकार को विधाता भी नहीं छीन सकता है। व्यंग रूप से लोकमान्य का इस श्लोक को वहां लिखकर टाँगने का अभिप्राय यही था कि विदेशी सरकार भले ही मुझे कारावास में बन्द कर दे पर मेरे देश वासियों के जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता के अधिकार को वह किसी प्रकार छीन नहीं सकती है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के १।६ के निम्न श्लोक में "हंस रूप जीव" को ब्रह्म-चक्र में घूमने वाला कहा गया है:—

सर्वा जीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥

सब जीव उसी महान् "ब्रह्मचक्र" के आधार पर स्थित हैं और उसी में ठहरे हैं। उसी "ब्रह्मचक्र" में इस "हंस जीवात्मा" को घुमाया जा रहा है। अपने को इस चक्र के प्रेरक से पृथक् जानकर जो उसकी प्रीति को प्राप्त कर लेता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

(२) वसु

ऋग्वेद और यजुर्वेद में आये इस विचाराधीन मंत्र में जो कठ उपनिषद् के ५।२ में भी उल्लिखित है, आत्मा की दूसरी स्थिति का वर्णन इन शब्दों में है :—

वसुरन्तरिक्षसत्

हृदय रूपी आकाश में निवास करने वाला। आत्मा कहां रहता है—इस सम्बन्ध में कई प्रकार के मत हैं। पाश्चात्य विचारक, प्रायः, मन (माइंड) और आत्मा (सोल) को एक ही मानते हैं और मस्तिष्क में इसका निवास बतलाते हैं। एक पाश्चात्य विचारक गैलन आत्मा को शरीर के प्रत्येक अवयव में मानता है और एक अन्य लेखक आत्मा को पेट में मानता है। अपनी पुस्तक "डाइवर्शन सैक्टोरम" में वह पेट में मानने की युक्ति यह देता है कि "पेटू व्यक्ति ही ईश्वर का अधिक भक्त होता है।" प्लेटो आत्मा को वर्तुलाकार सिर में मानता है। मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स आत्मा को साकार न मानता हुआ भी उसके स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं कह सकता।

स्वीडन के एक डाक्टर "जेकावसन" ने एक व्यक्ति को मरने से पहले तोला और फिर मरने के बाद तोला—तो १५ ग्राम की कमी थी। इससे यह डाक्टर परिणाम निकालता है कि आत्मा का तोल १५ ग्राम है। इस प्रकार आत्मा के शरीर में निवास स्थान और स्वरूप के सम्बन्ध में पाश्चात्यों के उलूल-जलूल विचार हैं। इस के वजन के सम्बन्ध में हम आगे चलकर विचार करेंगे।

आत्मा का स्थान हृदयाकाश में

भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा और परमात्मा दोनों का एक साथ स्थान हृदय ही माना है। परमात्मा सर्वव्यापक होने से आत्मा के भीतर-बाहर भी समरूप से व्याप्त है पर आत्मा शरीर में एकदेशी है, विभु (व्यापक) नहीं है। कठ उपनिषद् में यम ऋषि कहते हैं—

तँ दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्म योगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

इन्द्रियों से न दिखाई देने योग्य, गूढ़ और हृदय रूपी गहन स्थान के भीतर विद्यमान, सदा नवीन आत्मतत्व को अध्यात्म योग द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। इसी उपनिषद् के २। २० में कहा गया है कि—

अणोरणीयान् महतो महीयान्
आत्माऽस्य जन्तो निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको,
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥

वह ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। वह इस पुरुष की हृदय गुहा में स्थित है। निष्काम कर्मी और हर्ष शोक से रहित पुरुष उस प्रभु की कृपा से अपने आत्मा की महिमा को हृदय में जानता है।

गीता ४। ४२।४३ में इन्द्रियों से सूक्ष्म मन, मन से सूक्ष्म बुद्धि और बुद्धि से सूक्ष्म आत्मा को मानते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

इस बुद्धि से भी सूक्ष्म उस आत्मा को परमात्मा की सहायता से वश में कर काम रूपी भयंकर शत्रु पर विजय प्राप्त कर। गीता १८। ६० में स्पष्ट कर दिया—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित है। ब्रह्म जीव का साहचर्य होने से आत्मा का भी वहीं हृदय में निवास है।

यजुर्वेद १७। ३१ का मन्त्र—

ओ३म् । न तं विदाथ य इमा जजानान्य द्युष्माकमन्तरं बभूव ।

"आर्याभिविनय" में ऋषि दयानन्द इस मंत्र का अर्थ करते हैं—हे मनुष्यो ! तुम उस परमात्मा को जो सब भुवनों के बनाने वाला विश्वकर्मा है, नहीं जानते हो।"

इस मंत्र की व्याख्या में ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध ऋषि इस प्रकार बताते हैं "व्याप्य व्यापक, आधाराधेय, सेव्य सेवकादि सम्बन्ध तो जीव के साथ ब्रह्म का है।" अभिप्राय यह है कि ब्रह्म जीव में व्यापक है, ब्रह्म आधार है जीव उस पर आश्रित है, ब्रह्म सेवा करने योग्य है और जीव सेवक है। ये सम्बन्ध तभी रह सकते हैं जब ब्रह्म जीव सदा एक स्थान पर और एक साथ रहने वाले हों। वह स्थान हृदय ही है क्यों कि यजुर्वेद ३६। २ में—

ओ३म् । यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु ।

इस मन्त्र में इन्द्रियों के दोष, मन बुद्धि और हृदय स्थित आत्मा के दोष निवारण के लिए परमात्मा से प्रार्थना की गई है।

आत्मा माप-तोल से रहित

आत्मा स्थूल रूप, साकार व किसी प्रकार के माप-तोल का नहीं है। शिष्य को समझाने के लिए श्वेताश्वतर उपनिषद् ५।९ में कहा गया है—

बालाग्र शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

एक बाल के अगले भाग का १०० वाँ हिस्सा किया जाए और उस १०० वें का फिर १०० वाँ भाग किया जाए ऐसा आत्मा है। इसलिए ऋषि ने आगे स्पष्ट कर दिया।

अणुमात्रोऽयं पुरुषः हृदयाकाशे प्रतिष्ठितः ।

अणु मात्र यह आत्मा हृदयाकाश में स्थित है। स्वीडन के जिस डाक्टर के परीक्षण का हम ऊपर संकेत कर आये हैं जिसने जीवित मरणोन्मुख और मरणोपरान्त व्यक्ति को तोल में १५ ग्राम का भेद देख आत्मा का भार १५ ग्राम घोषित कर दिया था—वह सर्वथा युक्तिहीन है। यदि आत्मा का तोल-माप माना जाएगा तब वह विकारी और परिणामी अनित्य हो जायगा। १५ ग्राम तोल का यह भेद रक्त, चर्बी, जल आदि के हेतु हो सकता है क्योंकि इन के कण पर्याप्त मात्रा में मृत शरीर में विद्यमान तो रहते ही हैं।

(३) होता

इस विचाराधीन मन्त्र में आत्मा की तीसरी स्थिति है—

होता वेदिषद्

यह महान् विश्व एक यज्ञ वेदि के सदृश है आत्मा इस में "होता" यज्ञकर्त्ता के सदृश है।

यज्ञ का महत्व

वैदिक वाङ्मय में यज्ञ की बड़ी महिमा बतायी गयी है। ऋग्वेद के पहले मंत्र में ही यज्ञ रूप से परमात्मा की स्तुति की गयी है—

ओ३म्। अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्न धातमम्। १। १। १। १

हे यज्ञ के स्वामिन्! हे प्रकाशस्वरूप भगवन्। आप सब जगत् के हित साधक सुखदाता, सुन्दर विश्व को धारण करने वाले हो। मैं आप की बार बार स्तुति करता हूँ।

यजुर्वेद के पहले मंत्र "ओ३म् ईषे त्वोर्ज्जेत्वा······में यज्ञ को "श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु......श्रेष्ठतम कर्म कहते हुए उस की प्राप्ति की कामना की गयी है। यज्ञ की सर्वोत्कृष्टता के सम्बन्ध में वेदों में अनेक मंत्र हैं। कुछ का यहां संकेत किया जाता है—

(१) तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः
(२) यज्ञस्य देवं अग्नि ईडे। (यजु० ३१। ६, ७)

उस सब सुखदायक यज्ञ से मैं यज्ञ के स्वामी प्रकाशस्वरूप परमात्मा की स्तुति करता हूँ।

(३) यज्ञः पृथिवीं धारयति (यजु० ३१।१५)

यज्ञ इस भूमण्डल को धारण करता है।

(४) आयु र्यज्ञेन कल्पताम्, आत्मा यज्ञेन कल्पताम्, यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। (यजु० १८।२९)

ऋषि दयानन्द ने आर्याभिविनय में इस मंत्र का अर्थ करते हुए कहा है कि "हे सर्व स्वामिन्! यह आयु आपके समर्पण हो, यह आत्मा आप के समर्पण हो, यह यज्ञ (अच्छे काम) आपके समर्पण हों।"

(५) यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः। अथर्व० ९। १०। १४
यज्ञ विश्व का केन्द्र है।

श्रौत और स्मार्त यज्ञ

लौकिक यज्ञ कई प्रकार के हैं, दैनिक अग्निहोत्रादि से लेकर अश्वमेघ तक, जिनमें पंच महायज्ञ, समयानुसार दर्श पूर्णमास, चातुर्मास्य, इष्ट आपूर्त इत्यादि यज्ञ अन्तर्निहित हैं, इन्हें "श्रौत यज्ञ" कहा जाता है। दूसरे प्रकार के स्मार्त यज्ञ है जो गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक १६ संस्कार कहे जाते हैं। पर, ये सब यज्ञ बिना होता यजमान के कभी नहीं हो सकते। यह सब बाह्य यज्ञ हैं। इन सब का नाम ही "कर्मकाण्ड" है। श्री कृष्ण ने गीता के तीसरे अध्याय में यज्ञ की महिमा बताते हुए इसे "इष्ट काम धुक्" इष्ट कामनाओं की पूर्ति करने वाला कहा है और यहाँ तक कहा है कि जो यज्ञशेष खाते हैं वे सब पापों से छूट जाते हैं और जो इस यज्ञ चक्र में अपनी आहुति दिये बिना अपना ही पेट भरते हैं, वे पाप खाने वाले हैं।

अध्यात्म यज्ञ का होता—आत्मा

हमारे शरीर में भी इन्द्रियां, मन आदि यज्ञ के उपकरण रूप हैं और आत्मा इस अध्यात्म यज्ञ का होता है। वेद के अनुसार यह सम्पूर्ण विश्व यज्ञमय है जिसका अधिष्ठाता और संचालक परमात्मा है। जिस प्रकार यज्ञ कुंडमें समिधा, घृत इत्यादि द्वारा अग्नि यजमान प्रदीप्त करता है इसी प्रकार हृदय में आत्मा रूपी यजमान, परमात्मा को साक्षी जान, कर्म, ज्ञान, उपासना (भक्ति) इन तीन प्रकार की समिधाओं द्वारा "ब्रह्म वर्चस्" (ब्रह्म दर्शन) रूपी अग्नि को प्रदीप्त करता है। वेद में आत्मा कहता है—

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽहम्॥ यजु० २०। २४

हे व्रतपते प्रभो! मैं इस आत्मिक यज्ञ में व्रत और श्रद्धा की समिधा डालता हूँ। मैं तुझ से दीक्षित हूँ।

(४) अतिथि

अतिथिर्दुरोणसत्। "शरीर रूपी आश्रम व कुटिया में यह आत्मा अतिथि के सदृश है।

अतिथि का, सामान्यतः, यही अभिप्राय है कि जिसके आने की कोई तिथि न हो। पर इसका यह मतलब नहीं कि अगर यह किसी का अतिथि बना है, तो वहीं जम कर ऐसा बैठ जाए कि वहां से हटने का नाम ही न ले। ऐसा व्यक्ति अतिथि न बनकर सिर दर्द बन जाता है और गृहस्थ से अपमानित हो बाहर निकलने को बाध्य होता हैं।

संसार में आत्मा अतिथि सदृश

आत्मा भी इस शरीर में अतिथि बनकर आया है। शरीर जहाँ उसे जीवन यात्रा के लिए साधन रूप से प्राप्त हुआ है वहाँ आत्मा सदा ध्यान में रखें कि मैंने शरीर को ही सब कुछ मानकर इसमें फँस नहीं जाना है। अगली यात्रा भी करनी

है । उस आगामी यात्रा के लिये भी प्रतिदिन तैयारी करनी होगी । उपनिषत्कार के शब्दों में "आह्मात्मा न शरीरम्" मैं आत्मा हूँ शरीर नहीं । नीतिकार निम्न श्लोक में कैसी भावपूर्ण शिक्षा देते हैं—

भोगा मेघवितान मध्य विलसत् सौदामिनी चंचला ।
आयुर्वायुविघट्टिताभ्र पटली लीनाम्बुवद् भंगुरम् ।
लोला यौवन लालसा स्तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतम् ।
योगे धैर्य समाधि सिद्धि सुलभे बद्धि विदध्वं बुधाः ।।

जिस प्रकार मेघों के बीच चमकने वाली बिजली चंचल है, इसी प्रकार संसार के भोग हैं । वायु से फटे हुए बादलों से निकली क्षणिक जलधारा के समान यह आयु नाश होने वाली है । युवावस्था चंचल है, ऐसा जान कर, हे बुद्धिमान् पुरुषो ! ! धैर्य पूर्वक योग मार्ग में समाधि लगाने का अभ्यास करो ।

अतिथि बनकर इस संसार में ऐसे रहो कि सब तुम्हारे गुणों को याद करते रहें—

जब तुम जग में आये, जग हंसा तुम रोये ।
अब ऐसी करनी कर चलो, तुम हंसो जग रोये ।।

साथ ही सदा ध्यान में रखो—

दूर प्यारे की पुरी है, दिन किनारे आ चुका ।
चल, नहीं तो इस झमेले में पड़ा पछताएगा ।।

चार प्रकार के मनुष्य

(१) **नृषद्**—तामसिक । इसके आगे इस मंत्र में यह बताया गया है कि नरदेह में आकर आत्मा चार प्रकार के मनुष्यों के रूप में संसार में जीवन यात्रा चलाता है । इन चारों स्थितियों का ब्यौरा इस प्रकार है—

(१) **नृषद्**—सामान्य मनुष्य के रूप में । इस प्रकार के मनुष्यों में तमोगुण का प्रधानता होती है, अज्ञान, प्रमाद, आलस्य इत्यादि से भरपूर इनका जीवन होता है । इन्हें गन्दी नाली के कीट के समान कहा जा सकता है ।

(२) वरसत्—राजसिक

(२) **वरसत्**—यह पहले से तनिक ऊँचे स्तर के होते हैं । इनमें रजोगुण की प्रधानता होती है । ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, तृष्णा इत्यादि के साथ साथ जीवन में भाग-दौड़, चुस्ती, चालाकी, चंचलता, तीव्र क्रियाशक्ति, उपकार-अपकार इत्यादि भावनाओं का सम्मिश्रण इस प्रकार के व्यक्ति में होता है । अधर्म के साथ कभी-कभी धर्म की भावना भी जागृत होती है । पहली स्थिति की तुलना में अधिक उत्तम होने से इसे "वरसत्" कहा गया है । इस व्यक्ति को "पिपीलिका मार्ग" का यात्री कहा जाता है । "पिपीलिका" का अर्थ है, चिऊँटी । यह छोटा सा प्राणी अन्न संग्रह के लिए धीमे-धीमे नीचे फर्श से छत तक चढ़ जाता है पर मार्ग में अन्य चिऊँटियों से संघर्ष करता हुआ । फिर नीचे आकर अपनी बिल में घुस जाता है ।

(३) ऋतसत्—सात्त्विक

(३) **ऋतसत्**—इस वेद मंत्र में मानव देहधारी आत्मा की तीसरी स्थिति बतायी गई है, अर्थात्, श्रेष्ठ और उच्चतर स्थिति। "ऋत" का अर्थ है "सत्य" अर्थात् सतोगुण की प्रधानता। इस श्रेणी के व्यक्ति का जीवन निर्मल, प्रकाशयुक्त और ज्ञानमय होता है। इस प्रकार का व्यक्ति वैराग्य, इन्द्रिय संयम, विषयों से उपरति, एकांत वास, आत्मचिंतन इत्यादि आध्यात्मिक सम्पत्ति से भरपूर होता है। प्राणि जगत् में इसकी तुलना "धेनु"—(गो) से का गयी है। पशुओं में "गो" सात्विक व्यवहार का रूप हैं। इसीलिए वेदों मे इसे "अघ्न्या" न हिंसा करने योग्य कहा गया है। वेदों में गो की प्रशंसा के अनेक मन्त्र हैं और गोहत्या को महान् पाप कहा गया है। "गो" के अन्तर्गत बैल और बछड़ा भी है। घास खाकर जैसे गो सब प्रकार से पुष्टिकारक और सतोगुण वर्धक दूध देती है, इसी प्रकार "ऋतसत्" सत्य मार्ग का नरश्रेष्ठ मानव अपने आपको कष्टों और दुःखों की अग्नि में डाल कर भी अन्तिम श्वास तक प्राणिमात्र का कल्याण ही करता है।

गीता के १४।१७ के निम्न श्लोक के अनुसार—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्य गुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।

सात्त्विक जीवन के पुरुष उच्च स्थिति को प्राप्त करते हैं, राजसिक मध्य स्थिति को और तामसिक अपनी नीच वृत्ति के फलस्वरूप निम्न गति को प्राप्त करते हैं।

भर्तृहरि ने इन तीनों प्रकार के मनुष्यों का वर्णन इस प्रकार किया है—

एके सत्पुरुषाः परार्थ घटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यतमभृत स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानव राक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ।।

एक प्रकार के सत्पुरुष वे हैं जो अपने स्वार्थ को छोड़ सदा दूसरों का हित करते हैं, दूसरे प्रकार के सामान्य पुरुष वे हैं जो अपने स्वार्थ की रक्षा करते हुए दूसरों का हित करने में उद्यत रहते हैं, तीसरे प्रकार के मनुष्य रूप में राक्षस वे हैं जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे के हित का नाश करते हैं पर जो मनुष्य बिना किसी स्वार्थ के—बिना मतलब—दूसरे के हित की हानि करते हैं—उन्हें क्या नाम दूं—यह मैं नहीं जानता।

(४) व्योमसत्—जीवन्मुक्त

(४) इस मन्त्र में आत्मा की चौथी स्थिति भी निर्दिष्ट की गयी है। वह है "**व्योमसत्**"। 'व्योम' का अर्थ है "आकाश"। इस आकाश को "व्योम" क्यों कहते हैं—यह इस शब्द के सन्धिविच्छेद से स्पष्ट हो जाता है—

यह **वि+ओम्** "व्योम" इसलिए है क्योंकि इसमें "ओम्" परमात्मा विस्तृत रूप से सर्वत्र विद्यमान है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि परमात्मा आकाश में ही

व्यापक है, अन्यत्र नहीं। किन्तु जिस प्रकार आकाश तत्व प्रत्येक पदार्थ के भीतर और बाहर भी विद्यमान है, इसी प्रकार ब्रह्म है। वस्तुतः, आकाश तो एक पंचतत्त्व होने के हेतु परिच्छिन्न और एकदेशी है। पर ब्रह्म सर्वथा अपरिच्छिन्न और सर्व-व्यापी है। वस्तुतः, व्यापकत्व गुण का आशय दर्शाने के लिए ही आकाश से उपमा दी गयी है। यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय ४० के अन्तिम मंत्र १७ में "ओं खं ब्रह्म" शब्द में "ब्रह्म" के साथ "खम्" जोड़कर उसकी व्यापकता ही अभिप्रेत है। यहां भी खम् का अर्थ "आकाश" ही है।

इसलिए इस आत्मा की मानव देह में आकर चौथी स्थिति वह है जब वह आकाश के समान उच्च होकर सदा ब्रह्म में ही विचरने वाला हो जाता है, अर्थात्, जीवन्मुक्त की स्थिति प्राप्त कर लेता है। योग दर्शन के अनुसार—

तस्यापि निरोधे सर्व निरोधान्निर्बीजः समाधिः ।

समाधिपाद ५१

सब प्रकार के संस्कारों के निरोध करने पर चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। यह "निर्बीज" संस्कार वृत्तियों की सर्वथा बीज रहित समाधि है।

योगदर्शन के कैवल्य पाद सूत्र २९ में इसे—

"धर्ममेघः समाधिः"

धर्ममेघ समाधि कहा गया है। इसका स्वरूप मनु के शब्दों में—

धर्ममेघमिदं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः ।
वर्षत्येव यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥

जिस प्रकार मेघ चारों ओर वर्षा करता है, इसी प्रकार श्रेष्ठ योगी जन इस समाधि में निमग्न हो हजारों प्रकार से अमृत की धाराओं की वर्षा चारों ओर करते हैं। उस समय इस समाधिस्थ योगी की यही प्रार्थना होती है—

त्वमस्माकं तवस्मासि ॥ ऋग् ८ । ८१ । ३२

हे प्रभो ! तू हमारा है और हम तुम्हारे ही हैं।

गीता के शब्दों में इसे ही "त्रिगुणातीत" व "स्थितप्रज्ञ" कहा गया है।

आत्मा के लिए एकमात्र सोपान मानव योनि

आत्मा की उपर्युक्त चारों स्थितियां मानव देह में ही उपलब्ध होती हैं, अन्य किसी देह में नहीं। इसी देह को धारण करने वाला तामसिक व्यक्ति, शनैः शनैः आत्म-विकास करता हुआ "व्योमसत्" चतुर्थ स्थिति तक पहुँच सकता है। इसलिए आधारभूत सिद्धान्त यही है कि मानव देह की प्राप्ति हो। शास्त्रकार कहते हैं—

जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम् ।

सब प्राणियों में नर-शरीर दुर्लभ है। वेद में उपदेश दिया गया है—

मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ॥ ऋग् १०।५३।६

तू स्वयं अच्छा मनुष्य बन और अपने पीछे अच्छे मनुष्य रूप में उत्तराधिकार को छोड़कर जा।

कुरुक्षेत्र युद्ध भूमि में छः मास तक रण शय्या पर लेटे मृत्युंजयी भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को जो वैय्यक्तिक और सामूहिक जीवन स्पर्शी सर्वग्राही और व्यापक उपदेश, जो महाभारत के शान्ति पर्व में उल्लिखित हैं—दिये, उन की परिसमाप्ति करते हुए पितामह ने धर्मराज से कहा—

गुह्यमिदं ते प्रवक्ष्यामि
न हि मनुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् ॥

हे राजन् ! तुझे यह रहस्य पूर्ण तथ्य कहता हूँ कि मनुष्य से अधिक श्रेष्ठ कोई प्राणी नहीं है।

नारद मुनि ने एक बार वसिष्ठ से पूछा कि सर्वश्रेष्ठ प्राणी कौन है—तब ऋषि ने कहा—

पृथ्वी तावदीव विस्तृतिमती तद्वेष्ठनं वारिधाः ।
पीतोऽसौ कलशोद्भवेन मुनिना व्योम्नि खद्योतवत् ।
तद्व्याप्तं दनुजाधिपस्य जयिना पादेन चैकेन स्वम् ।
तं स्वं चेतसि धारयस्व विरत त्वत्तोऽस्ति नाऽन्यो महान् ॥

(१) पृथिवी बड़ी है पर उसे समुद्र ने घेरा हुआ है (२) समुद्र बड़ा है पर उसे अगस्त्य ने पी लिया और वह जुगनू बन आकाशों में चमक रहा है (३) आकाश बड़ा है पर उसे विष्णु ने वामन रूप में एक पैर से माप लिया। वसिष्ठ मुनि कहते हैं—हे नारद ! तुम जो मनुष्य हो, तुम से कोई महान् नहीं है।

मनुष्य की यह महानता उसके शरीर के कारण नहीं किन्तु आत्मा के ही फल स्वरूप है। यह ठीक है कि इस मानव देह में ही आत्मा ऊंची से ऊंची स्थिति उपलब्ध कर सकता है पर देह और आत्मा में प्राथमिकता आत्मा की ही है।

अतः यदि इस मानव योनि में और इस संसार में रहते हुए आत्म तत्व को जान लिया, तब तो जीवन सफल हो गया, यदि नहीं जाना, तो महान् विनाश है।

आज का मानव इतनी तकनीकी और वैज्ञानिक उन्नति करने पर भी क्यों दुःखी असन्तुष्ट, चिन्ताग्रस्त और विविध प्रकार के शारीरिक, मानसिक, रोगों में आपाद-मस्तक ग्रस्त है। इसका एकमात्र कारण जीवन के केन्द्र बिन्दु और धुरी से अपने को सर्वथा विलग कर देना है। गीता ६।५ में श्री कृष्ण ने आत्म तत्त्व की इस महानता को कितने प्रबल शब्दों में व्यक्त किया है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमव सादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

इस आत्मा को आत्मा द्वारा—अर्थात् परब्रह्म परमात्मा की सहायता से ऊंचा करो, कभी भी अपने आत्मा का पतन न करो। आत्मा ही अपने आत्मा का बन्धु है और उपेक्षित किया गया आत्मा ही अपना शत्रु है।

इस मंत्र में आत्मा की जिन चार स्थितियों का हम ऊपर वर्णन कर आये हैं, उनकी प्राप्ति वेद के शब्दों में "मनुर्भव" मनुष्य रूप में ही हो सकती है। उर्दू के कवि हाली के शब्दों में—

फरिश्ते से बेहतर है इन्सान बनना।
मगर इसमें पड़ती है मेहनत जियादह ॥

पर जो दृढ़ निश्चयी होते हैं वे अवश्य उद्देश्य सिद्धि कर लेते हैं। कबीर के शब्दों में—

जिन ढूंढा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरा डूबन डरा, रहा किनारे बैठ॥

चार स्थितियां अब्जा, गोजा, ऋतजा, अद्रिजा

ऋग्वेद, यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण और कठ उपनिषद् में उल्लिखित जिस मंत्र की व्याख्या हम कर रहे हैं, उसमें आत्मा की अन्तिम अन्य चार **स्थितियां ९, १०, ११, १२,** इस प्रकार बतायी गयी है **अब्जा, गोजा, ऋतजा, अद्रिजा।**

यह आत्मा जिन मानवेतर योनियों में अपने कर्मानुसार जाता है, उनका संकेत रूप से इन चार में वर्णन है।

(१) **अब्जा**—जल के प्राणी, (२) **गोजा**—पृथ्वी पर रहने वाले प्राणी, (३) **ऋतजा**—आकाश में विचरण करने वाले और (४) **अद्रिजा**—पर्वत इत्यादि ऊंचे स्थानों पर रहन वाले प्राणी—इस प्रकार आत्मा कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाता है।

अन्तिम स्थिति—आत्मा ब्रह्मार्पित ही हो

इस मंत्र के अन्तिम शब्द हैं—**ऋतं बृहत्**—अर्थात् "ऋतं" ब्रह्म सबसे महान् है। आत्मा में महानता, उच्चता, सात्त्विकता इत्यादि गुणों का प्रादुर्भाव और विकास तभी होगा, जब वह अपने से अनन्त महान् परब्रह्म के समीप जाएगा। यजुर्वेद के अध्याय ४० के मंत्र १६ में समाधिस्थ आत्मवान् योगी आनन्द में मग्न हो कहता है—

तेजो यत्ते कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥

हे प्रभो! तुम्हारा जो तेजोमय अत्यन्त कल्याण युक्त विश्व में व्यापक गुण है उसे मैं अपने आत्मा में देखता हूँ। यह अनुभव कर रहा हूँ कि वह जो सर्व-व्यापक ब्रह्म है, मैं उसके एक दम समीप हूँ। बीच में कोई अन्तराय नहीं है। यह भक्त कहता है—

हर सुबह उठके तुझसे मांगूँ मैं तुझी को।
तेरे सिवाय मेरा कुछ मुद्दआ नहीं है॥

भारत के ऋषि मनि ब्रह्म अर्पित आत्म तत्त्व के ज्ञान को ही जीवन का परम लक्ष्य मानते थे। उन्होंने आत्मा का लक्षण किया—

ज्ञातृत्वं कर्तृत्वं भोक्तृत्वादणुः।

ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता होने से वह अणु रूप ही है।

२२

मानव जीवन का केन्द्र बिन्दु आत्मा आत्म-साक्षात्कार का स्वरूप और उसके साधन

व्यक्ति संस्था से बड़ा है

संस्था और व्यक्ति में किसकी प्राथमिकता है—यह चिरकाल से विवाद का विषय रहा है। आज के युग में चाहे लोकतंत्रात्मक (डेमोक्रेटिक) हो और चाहे साम्यवादी (कम्युनिस्ट) हो—दोनों में व्यक्ति की अपेक्षा, संस्था, संगठन समूह—को प्राथमिकता दी जाती है। यह प्रायः कहा जाता है कि समाज के हित की तुलना में—बहुजन हिताय—व्यक्ति के हित का कोई महत्व नहीं है। परन्तु, वैदिक सभ्यता में व्यक्ति और समाज में समन्वय और सन्तुलन करते हुए भी व्यक्ति का स्थान अनुपेक्षणीय रखा गया है। दोनों में किस प्रकार का सम्बन्ध हो—यह नीतिकार के निम्न श्लोक द्वारा सुचारु रूप से अभिव्यक्त होता है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामार्थे कुलं त्यजेत् ।
त्यजेद् ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

कुल की रक्षा के लिए एक व्यक्ति को छोड़ दे, ग्राम की रक्षा के लिए कुल को छोड़ दे, जनपद (अंचल व प्रदेश) के हित के लिए ग्राम का त्याग कर दे पर जहाँ आत्मा और पृथिवी के राज्य में चुनाव करना हो तो पृथिवी का त्याग करके आत्मा के हित को प्राथमिकता दे। शल्य चिकित्सा क्षेत्र में हम इसी सिद्धान्त को लागू होता देखते हैं। अगर एक अंगुली काट देने से भुजा की रक्षा होती हो तो डाक्टर अंगुली काट देता है, अगर एक टाँग, व दोनों टाँग, एक भुजा व दोनों भुजाएं काट देने से शरीर बचता हो तो आज की शल्य चिकित्सा में इन्हें काट दिया जाता है। पर, सिर व धड़ काट देने से शरीर की रक्षा होती हो, तो कोई डाक्टर सिर व धड़ नहीं काटता। क्यों? इसलिए कि शरीर का सर्वोत्तम अंग तो सिर ही है। इसीलिए संस्कृत में सिर को "उत्तमांग" कहा गया है। जिस प्रकार इस स्थूल शरीर में सिर सर्वश्रेष्ठ है, इसी प्रकार मानव जीवन में "आत्मा" जो शरीर का स्वामी है—सर्वोत्कृष्ट है। उसके बिना शरीर का कोई मूल्य नहीं रहता।

इसी दृष्टि से व्यक्ति और संस्था में अधिक महत्व व्यक्ति का ही है। व्यक्ति

से संस्था बनती है, संस्था किसी महान् व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर पाती। संस्था में नियम-उपनियमों, कायदे-कानूनों का ऐसा पेचीदा दुश्चक्र उभर आता है कि व्यक्तित्व विकसित हो ही नहीं पाता। श्री राम और कृष्ण के नाम पर हजारों संस्थाएं बनी हुई हैं पर उनमें से एक भी राम और कृष्ण न बना सकी। राम का निर्माण किसी संस्था ने नहीं किया किन्तु कौशल्या माता ने किया। कृष्ण का निर्माण किसी संस्था ने नहीं किया किन्तु आचार्य सन्दीपन ने किया। राम और कृष्ण व्यक्तिगत रूप में एक ऐसे युग के निर्माता हुए कि जो आज तक न केवल भारत किन्तु विश्व के लिए ज्योतिस्रोत हैं। आज देश में हजारों आर्यसमाजें हैं किन्तु एक से भी दयानन्द का निर्माण नहीं हो सका। दयानन्द ने ही आर्यसमाज संस्था का निर्माण किया। महर्षि दयानन्द का निर्माण किसी संस्था में नहीं हुआ किन्तु दंडी विरजानन्द के कठोर अनुशासन से युक्त कुटिया में हुआ। फलतः, व्यक्ति की प्राथमिकता और श्रेष्ठता का मूल आधार उसका शरीर नहीं; किन्तु "आत्मतत्त्व" ही है। आत्मा के विकास के लिए जो पृथ्वी के साम्राज्य तक को ठुकरा सकता है, उसे ही उपनिषत्कार ने—

"आत्मकामः अकामःआप्तकामः" कहा है।

व्यक्ति की महत्ता आत्मा के कारण ही

इसी दृष्टि से यजुर्वेद १८/६७ के निम्न मंत्र में आत्मज्ञानी व्यक्ति घोषणा करता है—

ओ३म्। ऋचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि
नामास्मि। ये अग्नयः पाञ्चजन्याः अस्यां पृथिव्यामधि।
तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुव॥

मैं "ऋच्" स्तुत्यगुणयुक्त हूँ, मैं "यजूंषि" जीवन यज्ञके साधन युक्त हूँ, "मैं" "सामानि" समता, समन्वय सन्तुलन इत्यादि गुणसहित हूँ। इस पृथ्वी पर पांचजन्यों की जो अग्नियां हैं, उन्हें सजीव बनाने वाला है उत्तम व्यक्ति! तू ही है—ऐसा प्रभु आदेश देते हैं। यह पांचजन्य अग्नियां इस प्रकार हैं—

(१) वैयक्तिक (२) पारिवारिक (३) सामाजिक (४) राष्ट्रीय (५) विश्वव्याप्त। ऋग् १/१२/६ के अनुसार—

"अग्निना अग्निः समिध्यते"।

व्यक्तित्व की ज्योति से ही परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व ज्योतिर्मय हो सकते हैं।

याज्ञवल्क्य का गार्गी को उपदेश—

भारत की प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और चिन्तन का आधार "आत्मा" ही है। छान्दोग्य उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ऋषि और उनकी पत्नी मैत्रेयी का संवाद इस प्रसंग में बड़ा शिक्षाप्रद और प्रेरणाप्रद है।

बृहदारण्यक उपनिषद् २/४ में यह प्रसंग आता है। याज्ञवल्क्य ऋषि जब संसार से विरक्त हो चतुर्थ आश्रम में जाने लगे, तब उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों—

गार्गी और मैत्रेयी—को बुलाकर कहा "तुम दोनों को मैं अपनी सम्पत्ति बांट देना चाहता हूँ जिससे मेरे पीछे तुम दोनों में कोई झगड़ा न हो।" मैत्रेयी ने पूछा—"भगवन्! क्या आप की इस सम्पत्ति को प्राप्त कर मुझे आनन्द की प्राप्ति होगी?" ऋषि ने कहा—नहीं। मैत्रेयी ने फिर पूछा—यदि यह सभी पृथ्वी वित्त से परिपूर्ण हो जाए और मुझे मिल जाए, तो क्या इससे मुझे आनन्द प्राप्त हो जाएगा। याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं, जिस प्रकार संसार के अन्य समृद्ध व्यक्तियों का जीवन है, ऐसा ही तेरा जीवन हो जाएगा। पर मैत्रेयी कितने सारपूर्ण उत्तर के साथ इस सारी सम्पत्ति के प्रलोभन को ठुकरा देती है। वह कहती है—

येनाऽहं नामृता स्यां तेन किं कुर्यामिति।

जिस वस्तु को प्राप्त कर मुझे अमृत पद की प्राप्ति न हो, उसे लेकर मैं क्या करूंगी?

तब, ऋषि याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहते हैं कि—

(१) न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति,
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।
(२) न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रियो भवति,
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रियो भवति।
(३) न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति,
आत्मास्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।
(४) न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। इत्यादि।
बृहदारण्यक २।४।५

(१) पति इस लिए प्रिय नहीं होता है कि वह पति है पर आत्मा की इच्छा पूर्ति के लिए प्रिय होता है। (२) इसी प्रकार पत्नी (३) पुत्र (४) वित्त इत्यादि सब सांसारिक पदार्थ अपने आप मे प्रिय नहीं हैं किन्तु तभी तक प्रिय हैं जब तक वे आत्मा की आकांक्षा पूरा करते हैं। क्या हम संसार में प्रतिदिन नहीं देखते कि अनेक माता-पिता, पति-पत्नी, सन्तान, बन्धु-बान्धव जीवित होते हुए भी एक दूसरे से विलग हो जाते हैं, किन्हीं कारणों से आपस में बोलचाल तक बन्द हो जाती है, मरने पर कितना भी प्रिय और समीप का सम्बन्ध हो, शरीर को कोई घर में नहीं रखता और फिर कुछ वर्षों के बाद मृत्यु का दुःख भी भूल सा जाता है। मकान में आग लगने पर हर कोई अपने को बचाने की कोशिश करता है, अपने को आग में झोंक कर कोई सोना-चाँदी, बहुमूल्य वस्त्र-सामान इत्यादि को बचा लेने का दुःसाहस नहीं करता। क्यों? क्योंकि आत्मा के होते हुए ही जब तक इन पारिवारिक सम्बन्धों से आत्मा-सन्तुष्टि होता था, तभी तक यह लौकिक सम्बन्ध और पदार्थ प्रिय थे। आत्मा-सन्तुष्टि जब नहीं होती, तब कोई प्रिय नहीं रहता।

इसलिए अन्त में, याज्ञवल्क्य ऋषि २।४।५ श्लोक में मैत्रेयी को उपदेश देते हैं कि—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।
मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।।

हे देवी ! इस आत्मा को ही देखना चाहिए । इसी का महत्त्व सुनना और मानना चाहिए तथा इसी का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए । हे मैत्रेयी ! आत्मा के देखते, सुनने, समझने और जानने से सब गाठें खुल जाती हैं । ऐतरेय उपनिषद् में ऋषि से शिष्य पूछते हैं कि—

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा ।

वह कौन सा व कैसा आत्मा है जिसकी हम उपासना, ध्यान-चिन्तन करते हैं ?

आत्म-साक्षात्कार कौन करता है ?

जब ऋषि मुनि यह कहते हैं कि अपने आप को जानो, उसको देखो, आत्म-साक्षात्कार से ही जीवन का उद्देश्य पूरा होता है, तब, स्वभावतः, यह प्रश्न उठता है कि यह साक्षात्कार कौन करे ? जब हम किसी वस्तु को देखते हैं, तब वस्तु और उसे देखने वाला—दोनों का पृथक्-पृथक् होना आवश्यक है। इसे ही शास्त्रों में द्रष्टा, दृश्य, ज्ञाता-ज्ञेय इत्यादि नामों से कहा गया है । तब आत्मा यदि दृश्य है, तो उसका द्रष्टा उससे भिन्न होना चाहिए । ऐसा कोई पदार्थ हमारे हृदय में नहीं है जो आत्मा से भिन्न होता हुआ उसे देखने वाला हो । मन, बुद्धि, चित्त, अहँकार, शरीर की इन्द्रियां इत्यादि यह सब तो जड़ है और इनकी शक्ति आत्मा पर ही आश्रित है । हृदय में परमात्मा अवश्य है पर वह तो आत्मा के भीतर-बाहर समरूप से व्यापक है । उसके द्वारा साक्षात्कार का प्रश्न ही नहीं पैदा होता । आत्मा का दर्शन तो मनुष्य ने अपने कल्याण के लिए ही करना है, परमात्मा तो इस स्थिति से सर्वथा ऊपर और असीम होने से बन्धन रहित हैं ।

यह ठीक है कि मनुष्य स्वयं अपनी आंख नहीं देख सकता । पर दर्पण में वह अपनी आंख अवश्य देख सकता है । इसी प्रकार आत्मा स्वयं अपने को नहीं देख सकता, पर दर्पण में वह अपने को अवश्य देख सकता है । प्रश्न होगा कि आत्मा तो अणुरूप-सूक्ष्मातिसूक्ष्म—है, तब इसी के अनुकूल सूक्ष्मातिसूक्ष्म दर्पण क्या है ? वह परमात्मा है ।

साक्षात्कार ब्रह्मसान्निध्य से ही

इसलिए, आत्म-साक्षात्कार का अभिप्राय यही है कि अपने आत्मा को परमात्मा के सम्मुख रख उसके गुणों की तुलना में अपने दोषों को दूर करने और गुणों की वृद्धि की चेष्टा करना । आत्मा परमात्मा के सदृश सर्वव्यापक, सर्व नियन्ता सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, संहर्त्ता—इत्यादि नहीं बन सकता पर यह आत्मा परमात्मा के गुणों का निरन्तर ध्यान करता हुआ इन्द्रियों का नियामक, मन को वश में करने वाला, तामसिक, राजसिक दोषों से रहित और सतोगुण सम्पन्न तो अवश्य हो सकता है । योगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र २९ के अनुसार—

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यान्तरायाभावश्च ।

इस प्रकार निरन्तर परमात्मा के सान्निध्य से आत्मा में प्रकाश का अनुभव

होता है और सब प्रकार के विघ्नों का अभाव हो जाता है। वेद कहता है—

ओ३म्। सीद त्वं मातुरस्या उपस्थे। यजु० १२। १५

हे मनुष्य ! तू प्रतिदिन उस जगज्जननी जगन्माता के समीप बैठ।

ओ३म्। त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रथो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥ ऋग्० ४। १७। १७

हे प्रभो ! तू ही अनन्त प्रकार से हमारा पिता और माता है। इसलिए हम तेरी स्तुति करते हैं। हमारे आत्मा में यह दृढ़ निश्चय हो कि परमात्मा से अधिक हमारे लिए कोई कल्याणकारी नहीं है। आत्मसाक्षात्कार के लिए—इसे ही याज्ञवल्क्य ने निदिध्यासन कहा है। ऋषि दयानन्द के शब्दों में इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए—

"हे ईश्वर ! कुकाम कुलोभादि पूर्वोक्त दुष्ट दोषों को कृपा से छुड़ा के श्रेष्ठ कार्यों में मुझको स्थिर कर। मैं अत्यन्त दीन होके यही माँगता हूँ कि मैं आप और आप की आज्ञा के भिन्न पदार्थ में कभी प्रीति न करूं।"

—आर्याभिविनय

आत्म-साक्षात्कार के साधन

इस आत्म-साक्षात्कार और आत्म-निदिध्यासन के उपाय क्या हैं—मुण्डकोपनिषद् ३। १। ५ में ऋषि के शब्दों में—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रः।
यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः ॥

मल, आवरण, विक्षेप इत्यादि सब प्रकार के दोषों का नाश करने वाले, सदा प्रयत्नशील साधक, अपने हृदय में ज्योतिर्मय, शुद्ध आत्मा को चार साधनों का निरन्तर पालन करते हुए देखते हैं—

(१) सत्य—मन, वाणी कर्म से शुद्ध व्यवहार। (२) तप—धर्म मार्ग पर दृढ़ता से चलना (३) सम्यक् ज्ञान—विवेक और विद्या की साधना (४) ब्रह्मचर्य—संयमित जीवन। यति पुरुष इस प्रकार आत्म-दर्शन का आनन्द प्राप्त करते हैं।

मुण्डक ऋषि यह भी कहते हैं—

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथ अमृतस्यैष सेतुः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पारय तमसः परस्तात् ॥ २। २। ५, ६

उस एक परमात्मा के द्वारा ही अपने आत्मा को जानो, वृथा के कार्य छोड़ दो क्योंकि यह आत्म ज्ञान ही अमृत का पुल है।

इसके लिए "ओ३म्" का ही ध्यान करो, इससे हे मनुष्यो ! तुम्हारा कल्याण होगा और ओ३म् का यह ध्यान अन्धकार से तुम्हें पार करने वाला होगा।

प्रणव का अर्थ सहित जप

"ओ३म् को ही उपनिषदों और योग दर्शन में "प्रणव" कहा गया है। "प्रणव" का अर्थ है "जो विशेष रूप से सदा नया" है। परमात्मा का नाम सदा नया ही है, कभी पुराना नहीं होता।

परमात्मा के इस "ओ३म्" नाम का सदा ध्यान करने से आत्म-निधिध्यासन होगा। योगदर्शन समाधिपाद, सूत्र २८ के अनुसार—तज्जयस्तदर्थ भावनम्।

इस ओ३म् का जाप अर्थ सहित करने से ही लाभ होता है।

ओम् में तीन अक्षर हैं अ. उ. म्.। प्रत्येक अक्षर से परमात्मा के तीन नामों का ग्रहण होता है।

अ=विराट्, अग्नि विश्व। उ=हिरण्यगर्भ, वायु, तैजस्। म्=ईश्वर आदित्य, प्राज्ञ। यह सब परमात्मा के गुण वाचक नाम हैं। जाप करते समय प्रत्येक अक्षर के तीन-तीन गुण = कुल ९ गुणों का ध्यान करना चाहिए। जप मन में अथवा मुख बन्द करके वाणी द्वारा धीमे-धीमे करना चाहिए, तभी लाभ होगा। केवल माला फेरने की गिनती से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता।

"ओम्" की एक अन्य ढंग से भी व्याख्या की जाती है। इसके तीन अक्षर अ+उ+म् ब्रह्म, जीव, प्रकृति के द्योतक हैं "म्" हल है अर्थात् प्रकृति निर्जीव है— "उ" जीव है जो "अ" परमात्मा और "म्" "प्रकृति" के बीच में है। यह "उ" रूप जीव यदि "अ" परमात्मा की ओर जाएगा, तो "अ" से मिल "ओ" बन जाएगा, ऊर्ध्व स्थिति को प्राप्त करेगा। यदि "म्' प्रकृति की ओर जाएगा तो "म्" के नीचे लगकर "मु" हो जाएगा, अर्थात्, प्रकृति का दास बन कष्ट प्राप्त करेगा।

ऋषि मुनियों के इस अनुभूत मार्ग का श्रद्धा और निष्ठा से सतत अवलम्बन करते हुए मानव ब्रह्म सान्निध्य द्वारा आत्म-साक्षात्कार का परम आनन्द प्राप्त कर सकता है। मुण्डक ऋषि के शब्दों में—

भिद्यते हृदय ग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।। २। २। ८

हृदय की पाप रूपी सब गांठें कट जाती हैं, सब प्रकार के संशय मिट जाते हैं, सब प्रकार के कर्मों और उनके संस्कारों का अन्त हो जाता है, जब आत्मा इस प्रकार अपने और परब्रह्म दोनों का अनुभव कर लेता है।

इस लिए हे मनुष्य !

(१) **जाग पियारी अब का सोवै।**
रैन गयी दिन काहे को खोवै।।
जिन जागा तिन मानिक पाया।
तैं बौरी सब सोय गंवाया।। (कबीर)

(२) **श्वास श्वास पै ओ३म् कह, वृथा श्वास मत खोय।**
कौन जाने इस श्वास को, फिर आवन होय कि न होय।।

२३

आत्मा की अदालत में पांच विद्रोही : विद्रोहियों की पराजय आत्मा की श्रेष्ठता

आत्मा और प्राण का आपस में अटूट और अनिवार्य सम्बन्ध है। वस्तुतः आत्मा की अन्य शक्तियों के सदृश प्राण भी उसी की एक शक्ति है। यह संभव नहीं है कि आत्मा तो हो और प्राण न हो, अथवा इसके विपरीत प्राण हो और आत्मा न हो। उपनिषदों में कहीं प्राण के रूप से और कहीं आत्मा के नाम से किसी एक का महत्व प्रगट करने के आख्यान आते हैं। यहां उपनिषद् की एक कथा आत्मा (प्राण) के महत्व की पुष्टि में प्रस्तुत की जाती है।

हमारे अपने शरीर में एक बार जोर की लड़ाई हो गई। यह हथियारों की लड़ाई नहीं मगर एक तरह की हाथापाई थी। किसी गैर से नहीं, अपने जिस्म के ही अंगों में रस्साकशी हो गई। मगर इस झगड़े का ब्यौरा सुनने से पहले जरा यह सुन लें कि लड़ाकू सिपाही कौन-कौन थे और कहां-कहाँ खड़े थे। तभी झगड़े की पूरी तस्वीर समझ में आ सकेगी। पहले हरेक सिपाही का हाल सुनिए।

दो आंखें

हमारे सिर से लेकर गर्दन तक के हिस्से में पाँच अंग हैं। इन्हीं के द्वारा हमें बाहर की दुनियां की चीजों की समझ आती है। इनमें सबसे पहले आँख है जो गिनती में दो है, नाक की छोटी सी पुलिया इन्हें अलग करती है। इन दोनों आँखों से हम हरदम चारों ओर देखते रहते हैं। दुःख में दिल का पानी इन्हीं आंखों के रास्ते बाहर निकलता है, खुशी में आंखें चमक उठती हैं।

नाक के दो नथुने

इन आँखों के ठीक नीचे नाक है जिसके नथुनों को एक पतली चमड़े की झिल्ली अलग-अलग करती है। इससे हम सूँघते हैं खुशबू, और बदबू—दोनों ही। शरीर के भीतर के कफ और रेशे को बाहर निकालने के लिए दरवाजे का काम भी नाक के यह दोनों नथुने करते हैं, और जब कोई प्रियजन हमें सच्चे दिल से याद करता है, तब उसका सबूत यह नाक ही अपनी छींक द्वारा देती है, ऐसा हम नानी

दादी से सुनते आये हैं। पर हाँ, अगर यात्री के लिए घर से बाहर निकलने समय कोई छींक मार दे तो यात्रा में विघ्न पड़ जाता है—ऐसा ज्योतिषी जी महाराज कहकर हमें डराते रहते हैं। हमारे जीवन के आधार साँसों का आना जाना नाक के इन छेदों द्वारा ही होता है। नाक के नीचे करीब आध-पौन वर्ग इंच खुली जगह है जो मर्दों के वास्ते तो मूंछों के लिए रिजर्व है पर औरतों के लिए अभी तक तो बेकार है। लेकिन जो मर्द इस स्थान पर भी रोज उस्तरा फेर इस जगह को सफा-चट करते रहते हैं, वह अपनी मर्दानगी का झण्डा खुद ही उखाड़ते हैं। ठीक है, हरेक की अपनी-अपनी पसन्द है।

३२ से घिरी जीभ

अब दो होठों के बीच मुंह में बमुश्कल तीन इंच का एक मांस का टुकड़ा है जो ३२ शत्रुओं से घिरा है। इसे जीभ कहते हैं। दो होठों के ढक्कन के बीच मुख में ३२ दाँतों से हरदम यह छेड़छाड़ करती रहती है। इसके दो काम हैं, एक बोलना और दूसरा चखना। यह दोनों ही ऐसे काम हैं जो हमारे पैदा होते ही पहले क्षण से लेकर शरीर छोड़ने तक लगातार चलते रहते हैं। हमारी माता इस सच्चाई की गवाह है कि उसकी गोद में आते ही हमें दूध चाहिए और रोना चाहिए। यह दोनों काम मुख में दुबक कर बैठी जिह्वा ही करती है।

छाज के समान कान

हमारे सिर से ठीक नीचे माथे के दाँये-बाँये हिस्सों से जुड़े और हरेक आँख से करीब दो ढाई इंच समानान्तर रेखा के साथ बाहर की ओर दो खुले छाज के समान पर भीतर से घुमावदार मांस के दो पतले परदे जैसे हैं इन्हें कान कहते हैं। ये दोनों एक-दूसरे के करीब डेढ बालिश्त दूर हैं। बाहर के अच्छे बुरे शब्दों को यही सुन कर भीतर तक पहुंचाते हैं। पर आज के बुद्धिमान् मनुष्य ने इन दोनों कानों से और भी काम लेना शुरू कर दिया है भले ही यह नाजायज हो, जैसे मास्टरों द्वारा स्कूल में लड़कों के कान खींचना या उलटबाजी से कान पकड़ कर मुर्गा बनाना। दूसरा, मास्टर जी व मुंशीजी का कलम या पैंसिल को कान पर रख लेना। सर्दी के मौसम में ठंडी हवा के हमले सबसे पहले इन बेचारे कानों को ही सहने पड़ते हैं। हमारे दादा तो कनटोप पहन अपना बचाव कर लेते थे।

शरीर पर व्यापक चमड़ी

हमारा पाँचवां अंग जो इन चारों पर ही नहीं किन्तु सारे शरीर पर एक समान रूप से फैला हुआ है वह चमड़ी है। बाहर की सर्दी-गरमी और कड़ी-नर्म, चीज की परख इसी से होती है। यह सारे शरीर पर सिर की खोपड़ी से पैर के तलुवों तक—बिना ऊंच-नीच के कसी और खींची हुई हर समय, हर अंग के साथ, बिना किसी पक्षपात के, रहती है। इस चमड़ी के नीचे शरीर में फैली लाखों नस-नाड़ियाँ, हड्डियाँ उनमें दौड़ रहा खून—इत्यादि सब छिपा हुआ है। जिस समय चमड़ी उघड़ जाती है तो खून की धाराएं बाहर आने लगती हैं। चमड़ी के बिना शरीर के भीतर के नंगे हिस्से दिल में कंपकंपी पैदा कर देते हैं। चमड़ी काली हो या गोरी—चीज एक ही है। पर, दुनियाँ में इस चमड़ी के पीछे भयंकर झगड़े होते रहते हैं। कुछ लोग चमड़ी को दमड़ी से जोड़ते हैं।

पांचों में आपसी रार

शरीर के इन पांचों सिपाहियों में एक दिन तकरार होने लगा। इसकी शुरूआत इस सवाल से हुई कि "हम पांचों में कौन सबसे बड़ा है इसका फैसला आज और अभी होना चाहिये।" हरेक ने अपने को बड़ा बताया, कोढ़ की खाज की तरह यह आपसी रार भी बढ़ती गई। शरीर के पांचों सिपाही अपना-अपना मुकदमा लेकर आत्मा के पास गये। उसने सबको एक साथ, फिर हरेक को अलग-अलग भी, समझाया कि यह घर की लड़ाई बहुत बुरी है, इसे बन्द करो, नहीं तो तुम सब नष्ट हो जायेंगे, क्योंकि—

इस घर को आग लग गई, घर के चिराग से।

पर शरीर के पांचों सिपाही तैश में थे, कोई किसी की सुनने को तैयार नहीं था। आखिर, आत्माने कहा—"अच्छा, तुम सबमें कौन बड़ा है, इसके फैसले की मैंने एक कसौटी निकाली है। अगर तुम इसे मानने को तैयार हो तो मैं उसी के अनुसार तुम में से हरेक को कस लूं।" हरेक सिपाही ने कहा—"मैं इसके लिए तैयार हूं।"

तब आत्मा ने कहा—"तुम में से हरेक सिपाही इस शरीर से बाहर निकल जाए। अगर उसके बिना भी देह का काम चलता रहे तो इसका मतलब हुआ कि वह सबसे बड़ा नहीं है।" इस परीक्षा के लिए हरेक सिपाही तैयार हो गया।

जब आँख बाहर निकल गयी

सबसे पहले आंख ने जोश में कहा—"मैं सबसे पहले बाहर जाती हूं और देखती हूं मेरे बिना इस शरीर की गाड़ी कैसे चलती है?" आंख चली गई पर जैसे अन्धे दुनियाँ में काम करते हैं, शरीर भी इस प्रकार धन्धे करता रहा। आंख ने यह देखा। वह अपनी हार से शर्मिन्दा होकर वापस आ गई।

अन्यों का भी बहिर्गमन

तब कान निकल गया। पर जिस प्रकार बहरे अपना काम चलाते हैं, शरीर की हरकतें चलती रहीं। नासिका चली गई। दुनियां में ऐसे कई लोग हैं जिन्हें अपनी नाक से किसी गंध का ज्ञान नहीं होता पर वे अपना कारोबार करते रहते हैं। इसलिए नाक के जाने से भी शरीर को कोई घाटा नहीं रहा। फिर जीभ बाहर निकल गई। गूंगे जैसा अपना गुजारा करते हैं, ऐसे ही शरीर में कोई रुकावट पैदा नहीं हुई। आखिर, चमड़ी गई। जिस प्रकार कुष्ठ रोगी कपड़े पहन कर अपने उघड़े अंग छिपा लेता है, शरीर ने भी अपने को ढांप लिया।

फिर वापस आना पड़ा

अब पांचों सिपाही अपनी-अपनी हार मान कर वापस आ गये। तब फिर वही सवाल पैदा हुआ हम किसे बड़ा मानें? दोबारा आत्मा की अदालत में मामला पेश हुआ। उसने कहा—"मैं सबसे बड़ा हूं। तुम सब मेरे ही नौकर हो।" इस पर पांचों सिपाही बिगड़ गये और आत्मा को बड़ा मानने में आनाकानी करने लगे।

जब आत्मा बाहर निकला

आत्मा ने कहा—"देखो, तुम में से हरेक के शरीर से बाहर निकल जाने पर

भी इसका काम एक क्षण के लिए भी नहीं रुका। अब मैं बाहर जाता हूँ और देखता हूँ तुम एक पल भी कैसे जिन्दा रह सकते हो।" यह कहते ही आत्मा शरीर से कूच कर गया। अब आंख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा सब ठण्डे और जडवत् हो गये। सारा शरीर मिट्टी के ढेले के समान बेकार हो गया। तब, दूसरे ही क्षण, सब सिपाही इकट्ठे हुए। सबने मिलकर सर्वसम्मति से निश्चय किया कि हममें कोई बड़ा नहीं है, हम सब आत्मा के अधीन हैं और वही हमारा एक राजा, स्वामी और नेता है। सब मिलकर आत्मा की सेवा में उपस्थित हुए। उसे आदर के साथ नमस्कार किया और इस प्रकार उससे प्रार्थना की—

आत्मा से प्रार्थना

या ते तनर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः॥

प्रश्न उपनिषद् २।१२

हे आत्मन्! जो तेरी शक्ति वाणी, कान आंख इत्यादि इन्द्रियों में प्रतिष्ठित है और जिस तेरी शक्ति का विस्तार मन में भी विद्यमान है, तू उसके द्वारा हम सबका कल्याण कर, बाहर निकल कर मत जा। फिर नासिका द्वारा शरीर के भीतर जाने और बाहर आने वाले श्वास-प्रश्वास (प्राण-अपान) ने कहा—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुभाश्रितौ॥

कठ उपनिषद्। ५।५

प्राण और अपान—इन दोनों प्रकार के प्राणों से कोई प्राणी जीवित नहीं रहता। किसी अन्य शक्ति के द्वारा ही प्राणी जीवित रहता है—जिसमे यह प्राण अपान दोनों उपस्थित हैं। यह आत्मा ही है।

प्रश्न उपनिषद् में आत्मा को प्राण रूप में सम्बोधित करते हुए इस प्रकार उस की स्तुति की गई है—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रींश्च प्रज्ञांच विधेहि न इति॥

प्रश्न उपनिषद् २।१३

शरीर के तीनों भाग, ऊपर, मध्य और नीचे—जो कुछ भी है, वह सब प्राण आत्मा के ही अधीन है। हे आत्मन्! जिस प्रकार माता सन्तान की रक्षा करती है इसी प्रकार तू हमारी रक्षा कर और हमें ऐश्वर्य और उत्तम बुद्धि प्रदान कर।

इन्द्रियों की उच्छृंखलता : मृत्यु के पंजे में

बृहदारण्यक उपनिषद् ३।५।२१ में आत्मा और इन्द्रियों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में एक रोचक आख्यान है। जब प्रजापति (ब्रह्म) ने इन्द्रियाँ बनायीं तब वे आत्मा की अवहेलना कर आपस में स्पर्द्धा करने लगी। वाणी ने कहा—मैं तो सदा बोलती ही रहूँगी। आँख ने कहा—मैं तो सदा देखतीं रहूँगी। कान ने

कहा—मैं तो सदा सुनता ही रहूँगा। इसी प्रकार प्रत्येक ने बिना विश्राम किये और बिना आत्मा की आज्ञा माने निरन्तर अपना काम जारी रखने का निश्चय किया।

उस समय मृत्यु ने थकावट का रूप धारण कर प्रत्येक को जा पकड़ा। अब वाणी बोलते बोलते थक गयी, आंख देखते-देखते थक गयी, कान सुनते-सुनते थक गये। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ थक कर असमर्थ हो गयीं।

आत्मा के सम्मुख पराजित

उन इन्द्रियों ने देखा कि यह मृत्यु इस प्रकार आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं सकी। यह आत्मा तो बिना थकावट—अहर्निश—काम करता है। यह तो हम से बहुत श्रेष्ठ है। तब इन्द्रियों ने निश्चय किया—

हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति, एतस्यैव सर्वे रूपमभवत्।
तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राण इति।
तेन ह व तत्कुलमाचक्षते यस्मिन् कुले भवति॥

आओ, हम सब इसी के आधीन हों। वे सब उसके आधीन हो गयी। इस लिये इन्हे प्राण (आत्मा) के साथ ही कहा जाता है क्योंकि जो जिस कुल में पैदा होता है, उसे उसी कुल का कहा जाता है।

अर्थात्, इन्द्रियां आत्मा के आधीन हो गयीं। अभिप्राय यह है कि मानव देह में आत्मा सर्वश्रेष्ठ है, इन्द्रिय और मन यदि आत्मा के आधीन कार्य करें और स्वयं आत्मा परमात्मा के समीप रहे, तब तो मनुष्य का कल्याण होता है। जिस समय आत्मा पथभ्रष्ट हो उच्छृंखल हो जाये, परमात्मा को भुला दें—यद्यपि परमात्मा इतने दयालु हैं कि वह कभी किसी को नहीं भूलते, उस समय मन और इन्द्रियाँ भी कुपथ गामी होकर मानव जीवन को अंधकार के गड्ढे में गिरा देती है।

इसलिए, मानव जीवन की सफलता इसी में है कि प्रभु से शक्ति माँगते हुए आत्मा की श्रेष्ठता और उच्चता को सदा स्थिर रखा जाए।

२४

उपसंहार

योग ही एकमात्र श्रेयस्कर मार्ग

पिछले अध्यायों में वेद और शास्त्रों के आधार पर जीवन के विभिन्न अंगों पर विचार करते हुए हमने जो समीकरण किया और मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष पद की प्राप्ति और उसके साधनों का विवेचन किया—उस समूचे संदर्भ को यदि एक शब्द में कहना हो तो वह शब्द "योग" है। इस योग का स्वरूप क्या है! वेद कहता है—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽ अध्याभरत्॥ यजु ११।१

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना प्रकरण में ऋषि दयानन्द इस मन्त्र का अर्थ करते हैं—

"योग को करने वाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिए (प्रथमं मनः) जब अपने मन को पहले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्) बुद्धियों को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। (अग्नेर्ज्योति) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं (पृथिव्या) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है।

श्री कृष्ण गीता में कहते हैं :—

योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥८।२८

योगी सर्वोत्दृष्ट प्रथम स्थान अर्थात्, मोक्ष को प्राप्त करता है।

गणित के दो सिद्धान्त—योग और ऋण

यह योग क्या है—इसका स्पष्टीकरण प्रतिदिन काम में आने वाले गणित के दो नियमों से होता है। इन्हें साधारण भाषा में योग और ऋण कहा जाता है। योग का अभिप्राय है, जोड़ना, जैसे ३ में २ को जोड़ दिया जाए तो संख्या ५ हो जाएगी। ऋण का अभिप्राय है घटा देना। ३ में से २ को घटा दें, तो शेष १ रह जाएगा। इस योग और ऋण के हेर फेर से संसार के सारे कारोबार चलते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यही नियम

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यही नियम काम करता है। जिस समय आत्मा परमेश्वर के अत्यन्त सान्निध्य में उपस्थित हो आनन्द मग्न हो जाता है, वह गणित के दो अंकों के जमा होने के सदृश आत्मा का ब्रह्म के साथ योग है। उस समय ईश-उपनिषद् के निम्न श्लोक के अनुसार योग के आनन्द में मस्त भक्त कहता है—

तेजो यत्ते रूपं कल्याण तमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१३॥

हे प्रभो ! तुम्हारा जो अत्यन्त कल्याणमय रूप मेरे सम्मुख प्रकट हो रहा है, मैं उसे इस आत्मचक्षु से देखता हूँ। मैं अनुभव कर रहा हूँ कि तुम्हारा महान् ज्योतिर्मय स्वरूप मेरे आत्मा में भी विद्यमान है।

उपनिषद के इस उपर्युक्त श्लोक के अन्तिम पद का अर्थ है कि "जो यह पुरुष हैं, वह मैं हूँ।" नवीन वेदान्ती इसका अर्थ करते हैं कि जीव यह कहता है कि जो यह ब्रह्म है, वही मैं हूँ, अर्थात्, जीव और ब्रह्म—दोनों एक हैं। यदि जीव ब्रह्म ही है तो फिर उसे योग साधन द्वारा ब्रह्म दर्शन की आवश्यकता ही क्या है ? इस श्लोक के पूर्वार्ध में साधक अपनी साधना की चरम सीमा पर पहुंच ब्रह्म को स्पष्ट शब्दों में कहता है—

"तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।"

हे भगवन् ! तुम्हारा जो अत्यन्त आनन्दमय स्वरूप है, मैं उसे अपने आत्मा द्वारा देखता हूँ। देखने का अभिप्राय यही है कि दृश्य और द्रष्टा में भेद है। दृश्य ब्रह्म है और द्रष्टा जीवात्मा है। ऋषि दयानन्द ने "सत्यार्थ प्रकाश" सप्तम समुल्लास में नवीन वेदान्ती द्वारा शंका रूप में उद्धृत—

"अहं ब्रह्मास्मि" (बृहदारण्यक १।४।१०) "मैं ब्रह्म हूँ" और "अयमात्मा

ब्रह्म" (माण्डूक्य उपनिषद् २)—"यह आत्मा ब्रह्म है"—का उत्तर देते हुए ब्रह्म और जीव के पारस्परिक सम्बन्ध का निम्न शब्दों में युक्ति युक्त विवेचन किया है—

"कोई कहे कि ब्रह्मस्थ सब पदार्थ हैं, पुनः जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेष है ? इसका उत्तर यही है कि सब पदार्थ ब्रह्मस्थ हैं। परन्तु जैसा साधर्म्य युक्त निकटस्थ जीव है, वैसा अन्य नहीं। और जीव को ब्रह्म का ज्ञान और मुक्ति में वह ब्रह्म के साक्षात् सम्बन्ध में रहता है। इसलिए जीव का ब्रह्म के साथ तात्स्थ्य वा तत् सहचरितोपाधि अर्थात् ब्रह्म का सहचारी जीव है। इससे जीव और ब्रह्म एक नहीं।

"जैसे कोई किसी से कहे कि मैं और यह एक हैं, अर्थात्, अविरोधी हैं, वैसे जो जीव समाधिस्थ हो परमेश्वर में प्रेम बद्ध होकर निमग्न होता है, वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी, एक अवकाशस्थ हैं। जो जीव परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभाव करता है वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है।

"समाधि दशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है तब वह कहता है कि—"यह जो मेरे में व्यापक है, वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक हैं। इसलिए जो आजकल के वेदान्ती जीव ब्रह्म की एकता करते हैं वे वेदान्तशास्त्र को नहीं' जानते।"

ऋषि वचन के इस संदर्भ से जीव और ब्रह्म की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। जीव ने यदि आनन्द—उपलब्धि करनी है—जो कि प्रत्येक जीव का परम लक्ष्य है—तब उसे पूर्णतः ज्ञात होना चाहिए कि उसका अपना स्वरूप क्या है और जिसका उसने साक्षात्कार करना है—उसका स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्ति व साक्षात्कार के साधन, उपाय और मार्ग क्या हैं ? बस, इसी का नाम "योग" है।

कठ उपनिषद् में "प्रभव" और "अप्यय"

दैनिक व्यवहार में आने वाले गणित के दो नियमों का हमने प्रारम्भ में संकेत किया है, अर्थात्, योग और ऋण। कठ उपनिषद् में इसे निम्न प्रकार से यम ऋषि ने नचिकेता ब्रह्मचारी को समझाया है—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।
अप्रमत्त स्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥६।१०,११

जब पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं—चंचल नहीं रहतीं—और निश्चल मन के साथ बुद्धि में भी चंचलता नहीं रहती, उस अवस्था का नाम "परम गति" है। जिस समय इन्द्रियां एकदम संयमित हो वश में आ जाती हैं, उस स्थिति का नाम "योग" है। उस समय व्यक्ति सर्वथा, अप्रमत्त अर्थात्—प्रमाद हीन हो जाता है। इसी का नाम "योग" है जिसके अन्तर्गत दो उपाय हैं "प्रभव" और "अप्यय" है। यह दोनों शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और योग मार्ग की कुंजी इनमें सार पूर्ण शब्दों में सन्निविष्ट कर दी गयी है।

"प्रभव' का अर्थ उत्पन्न होना प्रादुर्भूत होना। शुभ संस्कारों और विचारों की उत्पत्ति "प्रभव" है। योग मार्ग पर आरूढ़ व्यक्ति को सदा अपने हृदय में उत्तम विचारों का उत्पादन करना चाहिए। इसके साथ ही "अप्यय" दुर्विचारों का सतत निराकरण करते रहना आवश्यक है। वेद में इसी मार्ग पर चलने के लिए प्रभु आदेश देते हैं—

ओ३म्। ज्योति र्वृणीत तमसो विजानन् नारे स्याम दुरिता अभीके।
इमाः गिरः सोमपाः सोमवृद्ध जुषस्वेन्द्र पुरुतमस्य कारोः॥

ऋग्। ३। ३९। ७

हे (विजानन्) विज्ञानी मनुष्य! (तमसः ज्योतिः वृणीत) अंधकार से हटकर प्रकाश का वरण करो। हे प्रभो! आपकी कृपा से हम (दुरितात् अभीके आरे स्याम) पाप से अत्यन्त दूर हों। हे (सोमपाः सोमवृद्ध) भक्ति आनन्द का पान करनेवाले और इसी पान से सदा बढ़ने वाले (इन्द्र) योग निष्ठ! (पुरुतमस्य कारोः इमाः गिरः जुषस्व) इन सर्वश्रेष्ठ स्तोता, ज्ञानी की इन हृदय से प्रवाहित वाणियों का प्रीतिपूर्वक सेवन कर।

मंत्र में "तमस्" और "दुरित" दोनों शब्द पाप के लिए हैं। इनका त्याग करना है। "ज्योतिर्वृणीत"—से प्रभु आदेश देते हैं कि "प्रकाश" अर्थात् पुण्य का वरण करो। "इन्द्र" शब्द द्वारा योग के मार्ग यात्री को यह भी आदेश दिया गया है कि वह इस विद्या के पारंगत विद्वानों और ज्ञानियों के उपदेशों का सदा श्रद्धा और प्रीति से सेवन करे।

दैनिक सन्ध्या के निम्न उपस्थान मंत्र में भी इसी आशय की प्रार्थना है—

ओ३म्। उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्य-मगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

यजु० ३५। १४

हे प्रभो! हम आपको हृदय में देखते हुए अत्यन्त श्रद्धा युक्त हो प्रार्थना करते हैं कि अन्धकार से ऊपर उठ आप के उत्कृष्ठ गुणों का चिन्तन करें। दिव्य गुण वाले पदार्थों में अनन्तादि दिव्य गुण युक्त आपके नित्य स्वरूप, सर्वानन्द स्वरूप का मुमुक्षु और योग साधना में संलग्न हुए सदा ध्यान करें।

प्रमाद रहित होकर

कठ उपनिषद के उपर्युक्त श्लोक में आये "प्रभव" और "अप्यय" का यही आशय है। इस वचन में एक अन्य शब्द है "अप्रमत्तः" अर्थात् प्रमाद रहित होकर। साधक और आत्मज्ञान के मार्ग के यात्री का अहर्निश प्रमाद रहित होना सर्वाधिक आवश्यक है। छान्दोग्य उपनिषद् १। ३। १२ में इसी अपरिहार्य साधन की इन शब्दों की पुष्टि की गई है —

आत्मानमन्ततः उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्न प्रमत्तोऽभ्यासीह।

परमात्मा के समीप उपस्थित हो, उसकी स्तुति करता हुआ प्रमाद रहित हो ध्यान करे।

एतानि मनसा ध्यायन् अप्रमत्तः स्तुवीत॥ छान्दोग्य २।२२।२१

इन गुणों का मनसे ध्यान करता हुआ प्रमाद रहित हो परमेश्वर की स्तुति करे।

मुण्डकोपनिषद् २। २। ४ में ऋषि कहते हैं —

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

ओंकार रूपी धनुष पर आत्मा रूपी शर को चढ़ा कर ब्रह्म रूपी लक्ष्य को बींधे। कैसे ? बिना प्रमाद के, उस समय शर पर ही पूर्णरूप से ध्यान हो।

लक्ष्य तो सामने है पर यदि उसे देखने के लिए आँख ही नहीं है—अर्थात्, तन्मयता और एकाग्रता ही नहीं है, तब सम्मुख की वस्तु भी दिखाई नहीं दे सकती। उर्दू के एक शायर ने ठीक ही कहा है—

नकाब दूर है हरचन्द रूप लैला से।
कहां से लायें मगर कोई दीदए मजनूँ॥

अर्थात्, यद्यपि लैला के मुँह पर परदा नहीं है पर देखने के लिए मजनूँ की आँखें तो चाहिए।

योग और वृत्तियां

योग क्या है ? योग दर्शन के प्रारम्भ में ही पातंजल ऋषि के शब्दों में—

योगश्चित्त वृत्ति निरोधः॥ समाधिपाद।२।

चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम ही योग है। बहिर्मुख वृत्तियों को अन्तर्मुख करना—और उन्हें आत्मतत्त्व द्वारा ब्रह्म की ओर केन्द्रित करना ही "योग" है। चित्त की वृत्तियां क्या हैं—यह एक लौकिक—उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा।

सागर का जल पृथिवी के सम्बन्ध से खाड़ी, झील, द्वीप इत्यादि का आकार धारण कर लेता है। इसी प्रकार चित्त अपने भीतर अवस्थित काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, भय आदि के रूप में इन्द्रियों के बाह्य—विषयों के सम्पर्क से तदाकार परिणाम को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार वायु के प्रबल वेग से जल में तरंगे उठती हैं और एक प्रबल तरंग निर्बल तरंग को लांघकर आगे निकल जाती है, इसी प्रकार चित्त इन्द्रियों के आधीन हो, बाह्य विषयों की ओर आकृष्ट हो तद्रूप धारण कर लेता है। यही चित्त की वृत्तियां हैं। यह अनन्त हैं और प्रतिक्षण किसी वृत्ति का उदय और किसी का अन्त होता रहता है।

यह वृत्तियां प्रधानतः तीन प्रकार की हैं। (१) तामसिक—जब चित्त में प्रमाद, मूढ़ता, अधर्म, अज्ञान, पाप इत्यादि अन्धकार का पूर्ण राज्य होता है। (२) राजसिक—जब चित्त में चंचलता का प्राधान्य होता है। इस स्थित में प्रकाश, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, उन्नति, विकास, आदि की लहर, तरंग, कामना, आकांक्षा, इत्यादि चित्त भूमि में बार बार प्रस्फुरित होती हैं और प्रेरित करती रहती हैं। (३) सात्विक—इस स्थिति में चित्त सर्वथा शान्त, आल्हादमय, उत्साह युक्त, धर्म, पवित्रता, श्रद्धा इत्यादि उदात्त भावनाओं से आपूरित और ब्रह्मनिष्ठ होता है। इस स्थिति को योग की परिभाषा में "विवेक ख्याति" कहा जाता है। संक्षेपतः, स्थिति (मूढता) तम का, क्रिया (चंचलता) रज का, और प्रकाश (ऊर्ध्व स्थिति) सत्त्व के धर्म हैं। चित्त आत्मा से पृथक् हैं और जड़ है। पर आत्मा के अत्यन्त सान्निध्य के कारण आत्मा (पुरुष) से प्रतिबिम्बित होता है। इस समय आत्मा

अपने स्वरूप में स्थित हो सब प्रकार के गुणों के परिणामों का यथार्थ रूप से साक्षात् कार करता है। ऋषि दयानन्द के शब्दों में—

"चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के, शुभ गुणों में स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को "योग" कहते हैं। जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से हठ बांध के रोक देते हैं, तब वह जिस ओर नीचा होता है, उस ओर चल के वहीं स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है, तब वह परमेश्वर में स्थिर हो जाती है।"

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, उपासना विषय)

योग के आठ अंग

योगदर्शन साधनपाद सूत्र २९ के अनुसार इस योग के निम्न आठ अंग हैं—

यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार-धारणा।
ध्यान समाधयो ऽष्टावंगानि ॥

(१) **यम पांच हैं**—(१) अहिंसा-प्राणीमात्र से प्रेम (२) सत्य-मन, वचन, व्यवहार में एक— सदृश (३) अस्तेय—अन्य के किसी पदार्थ की इच्छा न करना (४) ब्रह्मचर्य—जितेन्द्रिय होना (५) अपरिग्रह—संग्रह और अभिमान न करना।

(२) **नियम पांच हैं**—(१) शौच—भीतर बाहर की पवित्रता (२) संतोष—धर्मानुकूल पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना (३) तप—आत्मा और मन द्वारा धर्माचरण (४) स्वाध्याय—मोक्ष प्रेरक वेदशास्त्र पढ़ना-पढ़ाना (५) ईश्वर प्राणिधान—आत्मादि सर्वस्व ईश्वर के अर्पण करना।

(३) **आसन**—सुख पूर्वक शरीर और आत्मा की स्थिरता।

(४) **प्राणायाम** —श्वास—प्रश्वास का ज्ञान पूर्वक निरोध और संयम।

(५) **प्रत्याहार**—मन पर संयम द्वारा इन्द्रियों को जीतना।

(३) **धारणा**—मन की चंचलता दूर करने के लिए शरीर के किसी अंग पर उसे स्थित करना।

(७) **ध्यान**—ईश्वर को छोड़ अन्य किसी का चिन्तन स्मरण नहीं करना ईश्वर के स्वरूप और ज्ञान में ही मग्न होना।

(८) **समाधि**—अपने शरीर की सुध बुध भूल अपने आत्मा को परमेश्वर के प्रकाश, स्वरूप, आनन्द और ज्ञान से सदा परिपूर्ण करना। समाधि में ध्यान करने वाला, जिस साधन से और जिसका ध्यान करता है—तीनों में भेदभाव नहीं रहता।

ठग योगियों से बचो

योग मार्ग का यही शुद्ध, वज्ञानिक और वेदानुकूल स्वरूप है। आजकल इस योग की आड़ में कई प्रकार के पाखण्ड, छल,कपट जादू— टोने इत्यादि चल रहे हैं। ढोंगी लोग इस योग के नाम पर देश-विदेश की हवाई जहाजों द्वारा यात्रा कर शिष्य-शिष्याओं को मूँड़ अतुल धन-सम्पत्ति जमा कर रहे हैं। यह सब योग का नहीं किन्तु इस पवित्र जीवन मार्ग के नाम पर भोग का मार्ग है।

इस धोखाधड़ी और ठगबाजी तथा आजकल के धन और यश लोलुप नाम धारी गुरुओं से बचते हुए वेद और शास्त्र तथा ऋषि मुनियों के अनुभव पर आधारित मार्ग पर चलते हुए ही आत्म कल्याण प्राप्त हो सकता है। यही योग और मोक्ष का एक मात्र मार्ग है। **समाप्त**

वेद "सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।

— महर्षि दयानन्द

